श्री रामकृष्ण-विवेकानंद भाव-धारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

विवेक शिखा

वर्ष—७ अगस्त – १९८८ अंक—

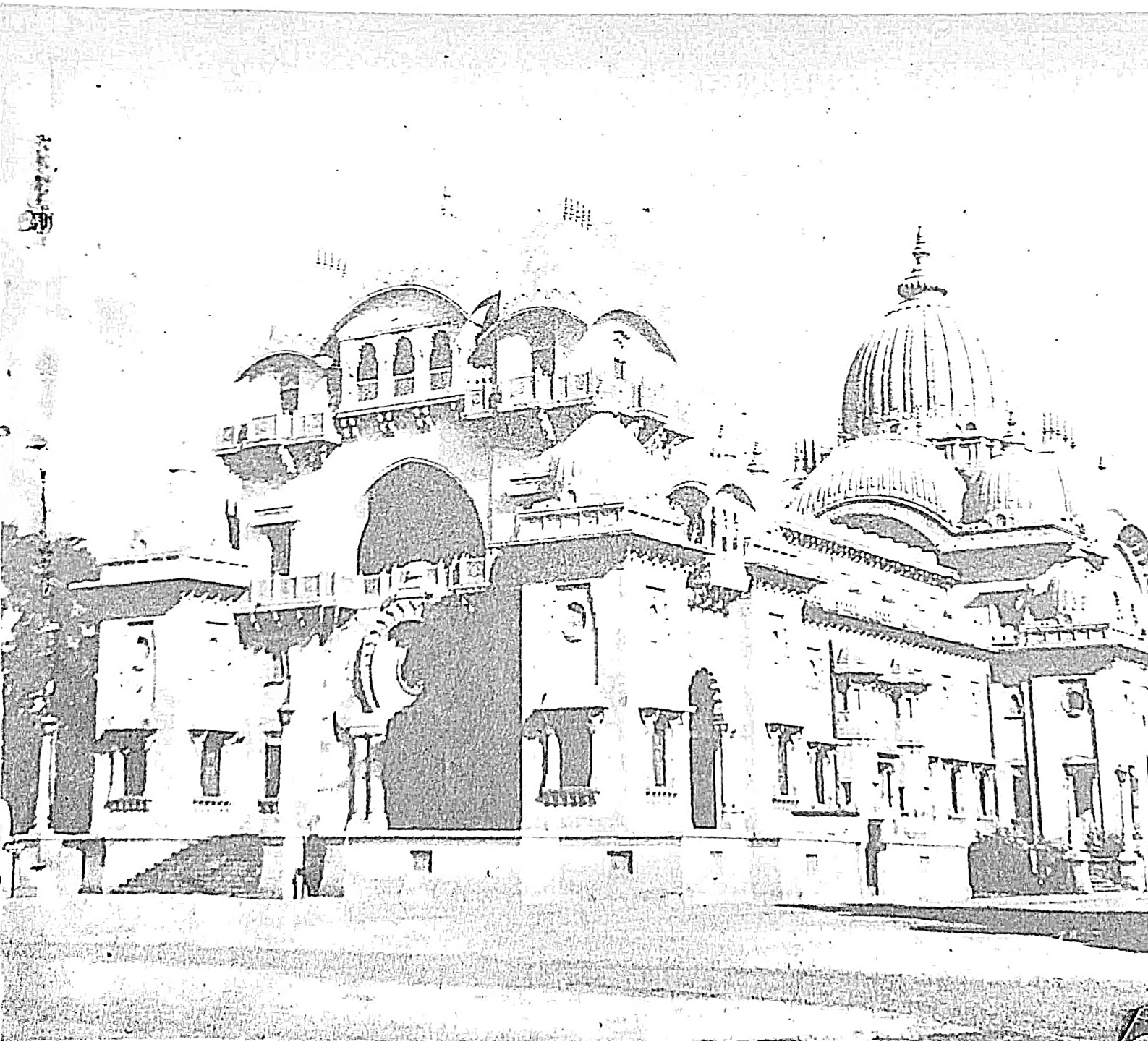

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

[illegible] श्रीराम विलास चौधरी—सुपौल, दरभंगा (बिहार)
[illegible] डा० रमेश चन्द्र प्रसाद—देवघर (बिहार)
[illegible] श्री मातादीन मिश्र—सारण (बिहार)
[illegible] एम० एम० नाबालगी—कादरा (कर्नाटक)
[illegible] श्री हेमराज साहू—मरसिहपुर (म० प्र०)
[illegible] डा० प्रकाश चन्द्र मिश्र—पटना (बिहार)
[illegible] श्री विनोद ब्रजभूषण अग्रवाल—नागपुर (महाराष्ट्र)
[illegible] श्री केशरदेव भालोटिया—जरमुण्डी (बिहार)
[illegible] श्री धर्मवीर शर्मा—खण्डवाया (उत्तर प्रदेश)
[illegible] श्री शिवशंकर सुखदेव पाटील—शेगाँव (महाराष्ट्र)
[illegible] श्री गजानन महाराज संस्थान—शेगाँव (महाराष्ट्र)
[illegible] श्री दयाशंकर तिवारी—
लाल बाजार, सीवान (बिहार)
[illegible] श्री राजकुमार गढोडिया—अपर बाजार (राँची)
[illegible] कुमारी चुक चुक—बेलगाँव (कर्नाटक)
[illegible] डा० श्रीमती वीणा कर्ण—पटना (बिहार)
[illegible] डा० सम्पत पाटील—भदोल (महाराष्ट्र)
[illegible] श्री रमाशंकर राय—वाराणसी
[illegible] श्री आर० के० यादव—फैजाबाद
[illegible] कुमारी अल्पना सकलेचा—बम्बई
[illegible] श्री हिम्मत लाल रणछोडदास शाह—बम्बई

४१. श्री नीरज गुप्ता—रायपुर (मध्य प्रदेश)
४२. डा० गीता देवी—४४, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४३. डा० शैल पाण्डेय—४१, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४४. श्री रामानन्द गुप्ता—बिमबा (उत्तर प्रदेश)
४५. श्री निशीथ कुमार बोस—तपन प्रिंटिंग प्रेस, पटना
४६. श्री नरेश कुमार कश्यप—नागपुर (महाराष्ट्र)
४७. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द समिति—अमरावती, महाराष्ट्र
४८. डा० दर्शन लाल—कुराली (पंजाब)
४९. श्री गोविन्द ढनढ़निया—कलकत्ता (प० बंगाल)
५०. श्री निखिल शिवहरे—बमोह (म० प्र०)
५१. श्री बी० भी० नागोरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा—समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री बिनुभाई भलाभाई पटेल—खेडा (गुजरात)
५४. श्री एम० सी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता—जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री ब्रजेश चन्द्र बाजपेई—जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८. श्रीमती गौरी चट्टोपाध्याय—एलेन गंज, इलाहाबाद
५९. श्री बसन्त लाल जैन—कैथल (हरियाणा)
६०. डा० श्यामसुन्दर बोस—दूधपुरा बाजार, (समस्तीपुर)
६१. श्री केशव दत्त वसिष्ठ)—हिसार (हरियाणा)
६२. श्री के०पी० बागरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
६३. मधु खेतान—कलकत्ता (प० बंगाल)
६४. प्रधान अध्यापिका—डोरांडा गर्ल्स हाई स्कूल, राँची

इस अंक में

		पृष्ठ
[illegible]रामकृष्ण ने कहा है		१
[illegible]रामकृष्ण भजन		२
[illegible]रामकृष्ण और रामकृष्ण मिशन	श्रीमत स्वामी गम्भीरानन्द	३
[illegible]र्म के धार्मिक दृष्टिकोण की मीमांसा	स्वामी सत्यरूपानन्द	[illegible]
[illegible]तीय परम्परा में रथ	स्वामी निखिलेश्वरानन्द	१४
[illegible] की दुर्लभता	स्वामी ब्रह्मेशानन्द	१७
[illegible]र्वनाएं	श्री रमा कान्त सिंह	२४
[illegible]	डा० चन्द्रकान्त	[illegible]

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—७ अगस्त—१९८८ अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय।

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	३५ रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजनेकी कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

संसार और ईश्वर दोनों बातें एक साथ होना कैसे सम्भव है ? — चिउड़ा कूटनेवाली स्त्री एक हाथ से ढेंकी को ओखली के भीतर चिउड़ा चलाती रहती है, दूसरे हाथ से बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाती है, साथ ही ग्राहकों के साथ लेनदेन का हिसाब करती जाती है। इस तरह वह एक ही साथ अनेकों काम करती रहती है, पर असल में उसका मन सदा ढेंकी के मूसल की ओर रहता है कि कहीं वह हाथ पर न आ गिरे। इसी प्रकार तुम संसार में रहते हुए सब काम करो, किन्तु सतत ध्यान रखो कि कहीं ईश्वर के पथ से दूर न चले जाओ।

(२)

जैसे लुकी-लुकौअल के खेल में अगर कोई ढाई को छू ले तो उसे चोर नहीं बनना पड़ता, वैसे ही मनुष्य यदि एक बार भगवान् के चरण-कमलों को छू ले तो वह संसार बन्धन में आबद्ध नहीं होता। जैसे ढाई को छू लेने पर खेल में पकड़े जाने या दाँव देने का डर नहीं रह जाता वैसे ही भगवान के चरणों को छू लेने पर, उनका आश्रय लेने पर, संसाररूपी क्रीड़ांगण में बद्ध होने का भय नहीं रह जाता।

(३)

यदि साधक को कोई दुष्ट स्त्री अपने मोहजाल में फँसा ले तो क्या होगा ? जिस प्रकार पके आम को जोर से दबाने पर गुठली और गूदा फट से निकलकर दूर छिटक जाता है, हाथ में केवल छिलका ही रह जाता है, उसी प्रकार, ऐसी स्त्री के हाथ पड़ते ही साधक का मन झट ईश्वर में चला जाता है, देह भर पड़ी रह जाती है।

श्रीरामकृष्ण-भजन

श्रीसारदा तनय

कहो कब दर्शन दोगे नाथ।
गत हो मोह-निशा, जीवन में कब होगा सुप्रभात ॥ध्रु०॥

हिय प्रकाश से भर जायेगा
अविरत सुख का स्रोत बहेगा।

डिगा न पायेंगे दुनिया के
ये दारुण आघात ॥१॥

निरख प्रेममय रूप तुम्हारा
पुलकित होगा तन मन सारा।

सब जग भूल विभोर रहूँगा,
तुम में ही दिन-रात ॥२॥

ठाकुर कब वह दिन प्रकटेगा
जब यह 'मैं'—जंजाल हटेगा।

मिटा खुदी को बन जाऊँगा
एक तुम्हारे साथ ॥३॥

—o—

श्रीरामकृष्ण और रामकृष्ण मिशन

—श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज
महाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ व मिशन
अनुवादक—डॉ० कल्याण शंकर भट्टाचार्य

[१४ मार्च १९८६ को भगवान श्रीरामकृष्णदेव के आविर्भाव-दिवस के उपलक्ष में बेलुड़ मठ में आयोजित धर्मसभा को रामकृष्ण मठ व मिशन के महाध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज ने सम्बोधित किया था। श्री सन्तोष कुमार दत्त ने उसे टेप रेकार्ड किया जो उद्बोधन के सितम्बर १९८६ के अंक में प्रकाशित हुआ था। यह उसी का हिन्दी रूपान्तर है। रामकृष्ण मिशन, कानपुर की कार्यकारिणी समिति के सदस्य डॉ. कल्याण शंकर भट्टाचार्य ने यह रूपान्तर किया है—सं०]

श्रीरामकृष्ण सर्वदा भगवान के भाव में विभोर रहते थे। इसीलिए प्रश्न उठ सकता है कि उनके नाम के साथ कर्ममुखर रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन का नाम जोड़ देने की क्या युक्ति है? यह प्रश्न अनेकों के मन में उठ सकता है और उठना भी स्वाभाविक ही है। अतीत काल के एक दिन की एक घटना की बात याद आती है। हमारे एक प्राचीन साधु स्वामी जगदानन्द जी—साधुओं के भोजन स्थान के समक्ष बैठकर सब्जी काट रहे थे। वर्त्तमान में जो बेलुड़ मठ का दफ्तर है, तब वहीं साधुओं के भोजन का स्थान था। श्रीमाँ तब वहाँ उपस्थित थीं। सब्जी काटना देखकर वह बोलीं: "लड़के तो काफी अच्छा सब्जी काट लेते हैं।" इसपर जगदानन्दजी ने कहा था ब्रह्ममयी की प्रसन्नता लाभ करना ही उद्देश्य है, चाहे वह साधन भजन करके हो या सब्जी काट कर हो।" वस्तुतः यह जो कर्मचंचलता हम रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन में देखते हैं, उसका उद्देश्य है ईश्वर की कृपा लाभ करना।

और हमलोग सुनते हैं, बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द जी) साधुओं को कहते थे: इस बेलुड़ मठ में श्रीरामकृष्ण घूमते फिरते हैं। इसलिए यहाँ चोरकाँटे भी पैदा होने नहीं दिया जाना चाहिए। मकान, घर-द्वार सब सुन्दर साफ-सुथरा रखना होगा, ताकि श्रीरामकृष्ण को किसी प्रकार का कष्ट न हो। यहाँ का जो भी कार्य है वह समस्त ही उनकी पूजा स्वरूप है, उन्हीं की सेवा स्वरूप। यही था उनका भाव।

तीसरी घटना काशीधाम में। वहाँ तब पूजनीय ब्रह्मानन्द जी महाराज उपस्थित थे श्रीमाँ भी थीं एवं कथामृत लेखक श्रीयुत् मास्टर महाशय भी थे। पर वे सब विभिन्न स्थानों पर रहते थे। उस समय एक दिन श्रीमाँ काशीधाम में रामकृष्ण सेवाश्रम देखने आयीं। उनको सब कुछ घुमा-घुमाकर दिखाया गया। उस दिन एक साधु ने माँको प्रणाम करते हुए कहा: "माँ सेवाश्रम आपने कैसा देखा?" माँ ने उत्तर दिया: "देखा, ठाकुर यहाँ प्रत्यक्ष विराजमान हैं। तभी यह सब कार्य हो रहा है। यह सब उन्हीं का कार्य है।" केवल यहीं नहीं, उन्होंने उस कार्य के लिए दस रुपये का एक नोट भी दिया सेवाश्रम के कार्यों में मदद के लिए। परन्तु सेवाश्रम के कार्यकर्त्ताओं ने उस नोट को न खर्च करके उसे बड़े यत्न के साथ रख दिया था। अभी तक वह नोट सेवाश्रम में रखा हुआ है। श्रीमाँ का

कथन जब स्वामी ब्रह्मानन्द जी के कानों तक पहुँचा तब वहाँ मास्टर महाशय को आते देखकर, उन्होंने कुछ ब्रह्मचारियों से उन्हें पूछने को कहा "माँ कहती हैं, सेवाश्रम ठाकुर का कार्य है, वहाँ ठाकुर प्रत्यक्ष विराजमान हैं, आप क्या कहते हैं ?" मास्टर महाशय को धारणा थी कि साधुलोग यह जो कार्य कर रहे हैं वह रामकृष्ण के उपदिष्ट उपायों से मेल नहीं खाता। जैसे यह एक नये पथ पर स्वामीजी ने इन्हें परिचालित किया है, ऐसी ही कुछ धारणा उनकी थी। अब जैसे ही मास्टर महाशय उस स्थान पर पहुंचे वैसे ही ब्रह्मानन्द जी महाराज की सिखाई हुई बातों को ब्रह्मचारियों ने उन्हें घर कर पूछा। उत्तर में मास्टर महाशय ने हंसते हंसते कहा : "अब और अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"

इन सब घटनाओं, परम्पराओं एवं वक्तव्यों से, हम जो भक्त और साधुजन हैं, उनमें विश्वास पैदा होगा कि अब और युक्तिओं की आवश्यकता नहीं है। यह ठीक ही ठाकुर का कार्य हो रहा है, यह ठीक ही चल रहा है। परन्तु सर्व साधारण के लिए यह युक्ति अकाट्य नहीं भी हो सकती है, सम्पूर्ण रूप से ग्रहणीय नहीं भी हो सकती है। इसीलिए इस विषय पर गौर करना भी जरूरी हो जाता है।

आप सब को ज्ञात है कि श्रीरामकृष्ण ने 'शिवज्ञान से जीव सेवा' की बात कही थी, 'शिवज्ञान से अर्थात् मनुष्यको शिव जानकर उसकी सेवा करना। इस बात को उन्होंने दक्षिणेश्वर में जिस दिन कहा उस दिन वहाँ जो लोग उपस्थित थे, उनमें नरेन्द्रनाथ भी थे, जो परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द कहलाये। ठाकुर की बात सुनकर उन्होंने कहा था : ईश्वर यदि मौका दें तो मैं बाद में दिखाऊँगा कि इस बात का क्या तात्पर्य है। उसी के फलस्वरूप प्रतिष्ठित हुआ रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन। वह सब बाद की बातें हैं। खैर; शिवज्ञान से जीव सेवा की बात कह कर ही श्रीरामकृष्ण रुक नहीं गये, कार्य में भी उन्होंने उसे रूपान्तरित किया—देवघर में। आप लोग अवगत हैं कि तीर्थयात्रा के मार्ग में मथुर बाबू समेत ठाकुर देवघर में उपस्थित हुए थे। वहाँ उपस्थित होकर उन्होंने देखी, वैद्यनाथ धाम के लोगों की शोचनीय दुर्दशा। उनके बिखरे सूखे बाल, शुष्क चेहरा, अस्थिचर्मसार शरीर एवं जीर्ण वेश-भूषा। यह सब देखकर उनके हृदय में करुणा जागी। मथुर बाबू से वे बोले : "तुम तो माँ के दीवान हो; इनके लिए सिर का तेल व तन ढकने को एक धोती दो, और पेट भर कर इन्हें एक दिन खाना खिलवाओ।" मथुर बाबू ने चारों ओर देखा कि संख्या में लोग अनेक हैं। कहा : "बाबा, तीर्थों में बहुत खर्चा आयेगा, यह भी देख रहा हूँ कि अनेक लोग हैं इनको खिलाने पिलाने से रुपयों की कमी महसूस हो सकती है !" मथुर बाबू की बातों पर ध्यान न देकर ठाकुर श्रीरामकृष्ण उन गरीबों के दुःख में रोने लगे और कहने लगे : "जा साले, तेरी काशी मैं नहीं जाऊँगा ! मैं इनके पास ही रहूँगा; इनका कोई नहीं है, इनको छोड़कर नहीं जाऊँगा !" यह कहकर वह गरीबों के बीच जा बैठे। सोच कर देखिए, जिस रामकृष्ण ने मृण्मयी के बीच चिन्मयी का दर्शन किया था, उन्होंने सारे संसार को बता दिया कि हिन्दू मूर्ति पूजक नहीं हैं; परन्तु मूर्त्ति में वह भगवान को पूजते हैं। श्रीरामकृष्ण कालीमय थे। शिव स्तोत्र पाठ करते करते जो बाह्य ज्ञान से शून्य हो जाते थे वही आज गरीबों के बीच बैठ गये उनकी व्यथा में समव्यथी होकर। वह क्या केवल गरीबों के प्रति दया प्रदर्शन करना था ? या उनके भीतर शिव-दर्शन करना ? उत्तर आप लोग स्वयं ही ढूँढ निकालिए। मुझे देने को आवश्यकता नहीं है।

उसके उपरान्त ही देखिए, श्रीरामकृष्ण गये

मथुरानाथ के साथ उनकी जमींदारी कलाईघाटा में—राणाघाट के समीप। उस वर्ष फसल अच्छी नहीं हुई थी। किसान मालगुजारी नहीं भर पा रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने गरीब प्रजा की दुर्दशा देखकर अश्रु विसर्जन किया और बोले : इन निरीह प्रजाओं की मालगुजारी तुम माफ कर दो और इन्हें अच्छी तरह खाना खिलवा दो। मथुरबाबू ने उस आदेश का भी पालन किया था। सो हम समझ सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण देव के भीतर ऐसा दरिद्र सेवा का भाव सर्वदा विद्यमान था। और एकबार देखते हैं, दक्षिणेश्वर में बातचीत हो रही है। मणि मल्लिक महाशय को ठाकुर ने कहा : "देखो, राखाल कह रहा था, उसके देश में बहुत ही पानी की तकलीफ है। तुम वहाँ क्योंनहीं एक तालाब खुदवा देते हो ? उससे कितने ही लोगों का उपकार होगा। तुम्हारे पास तो बहुत से रुपये हैं, उतने रुपये लेकर तुम क्या करोगे ?" फिर कहा : "वैसे मैंने सुना है कि तेली लोग बहुत ही हिसाबी होते हैं।" मल्लिक चुप-चाप खड़े रहे। उपस्थित सज्जनों में भी किसी ने कुछ न कहा। परन्तु थोड़ी देर बाद मल्लिक महाशय बोल पड़े महोदय तालाब की बात कर रहे थे। वह ठीक था, लेकिन तेली फेली कहने की क्या आश्वयकता थी ?" सुनकर सब हँस उठे। परन्तु इन सब बातों में श्रीरामकृष्ण का भाव देखिए। तालाब खुदा कि नहीं पता नहीं, इतिहास में वह बात लिपिबद्ध नहीं है परन्तु श्रीरामकृष्ण को जो भावना, थी दूसरों को मदद के लिए रुपये पैसे खर्च करने की आवश्यकता—यह बात इन घटनाओं से साफ जाहिर होती है।

और एक दिन की बात। नरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) तब अत्यन्त दुर्दशा पीड़ित थे। उनका पितृवियोग हुआ था। खाना नहीं मिलता था—पहनने का भी कपड़ा न था। जितनी दुरवस्था हो सकती थी, उतनी पहुँच चुकी थी। ऐसे समय एकदिन वे अपने एक धनवान मित्र के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे। ठाकुर ने तब उनके मित्र से कहा : "नरेन्द्र के पिता का देहान्त हो चुका है, उनके ऊपर बहुत बड़ी आपत्ति है, अब यदि यार-दोस्त मदद करें तो अच्छा हो। मित्र के चले जाने पर नरेन्द्रनाथ ठाकुर को दुत्कारते हुए कहने लगे : "क्यों आपने उसके सामने यह सब बातें कहीं"। तिरस्कृत होने पर अश्रु बहाते हुए श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया : 'अरे तेरे लिये मैं द्वार-द्वार भिक्षा याचना कर सकता हूँ।" द्वार-द्वार पर उन्हें भिक्षा प्रार्थी तो न होना पड़ा। परन्तु भाव तो देखिए ! दूसरों के लिए जब हृदय रो उठता है तब घर-घर में भिक्षा याचना भी की जा सकती है। यही था श्रीरामकृष्ण का भाव।

उसके बाद और भी घटना देखिए। श्रीरामकृष्ण अक्सर कामिनी—काँचन त्याग करने की बात कहते थे। एकदिन ऐसी ही बात चली। तब श्रोताओं में से एक ने कहा : "संसार में रहने के लिए रुपये भी चाहिए, संचय भी चाहिए। पाँच तरह के दान ध्यान.....।" उसपर ठाकुर बोले : "कितना दान-ध्यान-दया ! अपनी लड़की की शादी में हजार हजार रुपयों का खर्चा—और उधर पड़ोसी को खाना नसीब नहीं हो रहा है। उनको थोड़ा-सा चावल देने पर भी कष्ट होता है—बहुत हिसाब करके देना पड़ता है। लोगों को खाना नहीं मिल रहा है—तो क्या करें—वह साले मरें जीयें,—मैं और मेरे परिवार के लोग सब ठीक रहें, बस ! मुँह से कहते हैं सर्वजीव में दया !" बातों का क्या तात्पर्य निकला ? तुम्हारे पास अगर है तब केवल स्वयं न भोग कर, दूसरों की तरफ ताककर, उनका सहमर्मी होकर उनके लिए कुछ करना आवश्यक है। साधु सेवा का भाव भी श्रीरामकृष्ण के मन में यथेष्ट था। तभी एक बार मथुर बाबू से उन्होंने कहा कि साधुओं के लिए आवश्यक वस्तुओं से एक कमरा पूर्ण करके रखना। मथुर बाबू ने

[उस आदेश का पालन किया था एवं ठाकुर ने उन सब द्रव्यों से दक्षिणेश्वर में आये अथवा सागर स्नान मे जाने के लिए तैयार साधुओं की सेवा की। उसके अतिरिक्त उनकी अन्तलीला काल में ब्राह्म समाज में या भक्तों के घर घर जाकर सबको अकातर रूप से भगवद् भाव से जागरूक किया था। एक और मजे की बात याद करिए। ठाकुर ने लाटू महाराज को लिखना पढ़ना सिखाने की चेष्टा की थी। परन्तु लाटू महाराज के 'क' को 'का' कहकर उच्चारण करने से वह चेष्टा वहीं समाप्त हो गयी। अर्थात् श्रीरामकृष्ण ने केवल बातों में नहीं बल्कि कार्य में भी सब जगह नाना प्रकार से दर्शाया है कि, दूसरों के लिए सर्व प्रकार से चेष्टा करते रहना, जिससे उनका मंगल हो सके, जिससे वे सुख शान्ति से जीवन बिता सकें यह मनुष्य का एक कर्त्तव्य है। जिसको Humanism (मानवतावाद) कहा जाता है। अभीतक आपने जो सुना वह ठीक वही मानवतावाद नहीं है। ठाकुर के भाव की बुनियाद थी आध्यात्म। आध्यात्म के ऊपर प्रतिष्ठित जो मानवता है उसी की बात श्रीरामकृष्ण सिखा गये हैं, कह गये हैं एवं दर्शा गये हैं—अपने कथन और कार्यों में।

यह तो हुई एक तरफ की बात। उसके बाद प्रतिष्ठित हुआ स्थापना का कार्य। यह जो मठ का गठन करना —क्या यह भी श्रीरामकृष्ण का अभिप्राय था? अवश्य हां। इसमें कोई सन्देह नहीं है। आप में से जिन्होंने वचनामृत या लीला प्रसंग इत्यादि ग्रंथ पढ़े हैं, उनको ज्ञात होगा कि—काशीपुर के अवस्थान काल में ठाकुर ने अपने वरद् हस्तों से अपने शिष्यों को गेरुआ प्रदान किया था एवं उनको भिक्षा मांगने के लिए भेजा था। उन्होंने स्वयं भी भिक्षा का अन्न थोड़ा-सा ग्रहण किया था। उसके बाद वह गोपनीय रूप से स्वामीजी को नाना उपदेश देते थे कि कैसे युवक भक्तों को समेट कर रखना चाहिए ताकि वे घर वापस जा कर गृहस्थी में न बँध जायें। कैसे मठ की प्रतिष्ठा करनी होगी—वह सब बातें भी उन्होंने स्वामी जी को उसी समय सिखा दी थीं। स्वामीजी ने स्वयं भी १८९० ई० की २६ मई को प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा: "मेरे ऊपर उनका (श्री रामकृष्ण का) यह निर्देश है कि उनके द्वारा स्थापित त्यागी मण्डली का दासत्व मैं करूँ ... । उनका आदेश यह है कि उनके त्यागी सेवकगण-एकत्रित रहें एवं उसके लिए मैं भारप्राप्त हूँ।' श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग के बाद उन्होंने सुरेन्द्र नाथ मित्र को दर्शन देकर कहा "तू क्या कर रहा है? मेरे लड़के सब पथ पथ पर मारे-मारे घूम रहे हैं—उनकी पहले एक उचित बन्दोवस्त कर।?' उसीके फलस्वरूप बाराहनगर मठ की स्थापना हुई। अतः यह मठ श्रीरामकृष्ण द्वारा स्थापित है। उन्हींकी प्रेरणा से उन्हीं के उपदेश के अनुसार उन्हीं की इच्छा अभिप्राय के अनुसार यह मठ बनकर तैयार हुआ। तथापि हमारे मन में फिर प्रश्न उठता है कि एक प्रतिष्ठान को केन्द्र बनाकर इतनी जो विभिन्न शाखाएँ बन गयीं और जिस प्रतिष्ठान के जरिये नाना प्रकार के कार्य चलने लगे, जिसको अंग्रेजी के एक शब्द में कहते हैं Organisation (एक केन्द्रिक बहु शाखाविशिष्ट प्रतिष्ठान), यह Organisation कहाँ से आया? यह क्या श्रीरामकृष्ण कल्पित अथवा स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्वकपोलकल्पित था?—यह प्रश्न उठता है। थोड़ा सोचा जाय। हम जानते हैं कि स्वामीजी को अपने मन में भी सन्देह था, इस तरह से Organisation बनाना उचित होगा कि नहीं। प्रथम अवस्था में जब अमेरिका में थे, तब एकदिन बोले: अमेरिका में आकर अपने जीवन के सर्वाधिक प्रलोभन में मैं पड़ा। एक महिला से बात हो रही थी। अतः उन्होंने समझ लियाकि यह एक प्रेम का मामला है। अचानक उन्होंने पूछा: "वह लड़की कौन थी, स्वामीजी? स्वामीजी

ने उत्तर दिया (हम अनुमान कर सकते हैं; थोड़ा मुस्कुराकर बोले) 'Organsiation'। यह जो प्रतिष्ठान के सहारे, एक विशेष केन्द्र के जरिये से, विभिन्न शाखाओं के माध्यम से कार्यों का परिचालन करना - इस चीज ने ही उन्हें प्रलोभित किया था। उसके बाद अमरीका से १८९७ ई० की १ मई को लौटकर श्रीरामकृष्ण के भाव प्रचार के लिए, शिवज्ञान से जीव सेवा के लिए, रामकृष्ण मिशन की प्रतिष्ठा उन्होंने अपने हाथों से की। प्रतिष्ठा के बाद भी इस विषय पर सन्देह उठा—यह ठाकुर के भावों के अनुरूप हुआ कि नहीं! यह सन्देह तब अनेक भक्तों के मन में था। स्वामी विवेकानन्द के गुरु भ्रताओं के बीच तो अवश्य था। इसके बारे में अनेक वाद-विवाद आदि भी हुए। श्रीमाँ के पास तक यह प्रश्न उठा। माँ ने उस पर उत्तर दिया था कि नरेन ने जो किया, है वह ठीक किया। नरेन ने जो किया वह ठाकुर का ही कार्य है। गुरु भाई सब पहले समझे कि न समझे परन्तु बाद में स्वामी जी का भाव उन्होंने ग्रहण किया। हम देखते हैं कि स्वामी ब्रह्मानन्द जी, स्वामी शिवानन्द जी, स्वामी सारदानन्द जी, स्वामी रामकृष्णानन्द जी, स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी, स्वामी अखण्डानन्दजी, स्वामी विज्ञानानन्दजी—यह सब लोग नाना प्रकार से स्वामीजी द्वारा अनुप्राणित होकर स्वामीजी परिकल्पित नाना कार्यों मे लिप्त हुए। ऐसा भी सुना जाता है कि स्वामी तुरीयानन्दजी ने, अंतिम काल में जब रोग पीड़ित थे, कहा था: मुझे इतना कष्ट भोग करना पड़ रहा है क्योंकि मैंने स्वामीजी का कहा न मानकर उनका कार्य नहीं किया। एवं स्वामीजी स्वयं कहते थे: मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ठाकुर मेरा हाथ पकड़ कर करा रहे हैं। उन्होंने कभी भी दावा नहीं किया कि उन्होंने स्वयं रामकृष्ण मठ व रामकृष्ण मिशन की प्रतिष्ठा की। वह तो बल्कि यह कहते थे, ठाकुर ने उनके माध्यम से करा लिया। यह था उनका भाव। अतः श्रीमाँ के कथन से स्वामीजी के कथन से, स्वामीजी के गुरु भाइयों के कथन से हमें सही सही प्रमाण मिलता है कि यह कार्य था ठाकुर का।

अन्त में आप लोगों से कहना चाहता हूँ, यह जो रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की भावधारा का प्रचार एवं शिवज्ञान से जीव सेवा करना—उसे केवल रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन में ही सीमाबद्ध न रखकर इस भावधारा को समस्त विश्व में फैला देना चाहिए। समस्त भक्त गृहों को एक मठ या मिशन में परिणत किया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण स्वयं कह गये कि ईश्वर ने जो यह परिवार—परिजन हमें दिया है, वह उनकी सेवा करने के लिए है, नारायण समझ कर प्रतिपालन करने के लिए है। परिवार, परिवार मात्र ही समझ कर नहीं। नारायण नाना रूपों में हमारे सामने विद्यमान हैं, उन्हीं की सेवा करने के लिए। अतः प्रत्येक गृह सेवा केन्द्र के रूप में परिणत हो सकता है, और उस स्थान के पड़ोसी भी सद्गृहस्थ को देखकर इन भावों में अनुप्राणित होंगे। इस प्रकार ठाकुर का भाव उनके भीतर भी प्रचारित होगा। और जिनके पास सामर्थ्य है वह अपना हाथ बढ़ाकर और सबके साथ समप्राण होकर उनकी मदद के लिए आगे आ सकते हैं। यही है श्रीरामकृष्ण व स्वामी विवेकानन्दजी की शिक्षा का एक आधार, एक दिशा। मैं यह नहीं कहता कि यही सब कुछ है। ठाकुर के बारे में कहने के लिए और बहुत कुछ है। वे बहुत कुछ प्रदान कर गये हैं जिनका हमें शोध द्वारा, चिन्ता द्वारा आविष्कार करना होगा एवं कार्य में परिणत करना होगा। मैंने तो आपके समक्ष एक ही पहलू को उपस्थित किया है।

□

मार्क्स के धार्मिक दृष्टिकोण की मीमांसा

—स्वामी सत्यरूपानन्द
बेलुड़ मठ

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। सदा भंगुर वस्तुओं द्वारा उसके मन को शांति नहीं दी जा सकती। शाश्वत का संधान उसकी मौलिक आवश्यकता है। कोई भी नाशवान वस्तु उसे सदैव के लिए संतुष्ट नहीं कर सकती। अपने चारों ओर के संसार के प्रति जैसे ही व्यक्ति सजग होता है, वह पाता है कि सबकुछ परिवर्तनशील है, सब कुछ क्रमशः अदृश्य एवं विलीन होता जा रहा है।

संसार के विचारकों को इस घटना ने इस बात के लिए प्रेरित किया है कि वे यह देखें कि इस परिवर्तनशील जगत के पीछे कोई अपरिवर्तनीय तत्त्व भी है क्या? मोटे तौर पर इस मौलिक प्रश्न के दो उत्तर दिये गये हैं।

१. एक उत्तर कहता है कि यह दृश्य जगत आभास मात्र है। इस परिवर्तनशील जगत के पीछे एक अपरिवर्तनीय सत्ता विद्यमान है। अतः सत्य इन्द्रियातीत है और इसलिए उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं देखा जा सकता। यद्यपि साधारण अर्थ में सत्य 'ज्ञान गम्य' नहीं है तथापि वह 'अज्ञेय' नहीं है। मनुष्य अन्तःप्रज्ञा द्वारा अपने अन्तःकरण में इस सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकता है। सभी देश तथा काल में ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने इस इन्द्रियातीत सत्य का अनुभव किया है। इस सत्य को प्रत्यय, मन, आत्मा आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है।

इस चिन्तन को प्रतिपादित करने वाले दर्शन को आदर्शवाद (Idealism) कहा जाता है तथा उसके अनुयायी आदर्शवादी कहलाते हैं।

२. दूसरा उत्तर कहता है कि इन्द्रियगम्य इस दृश्य भौतिक जगत के अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं है। इस चिंतन का प्रतिनिधित्व करने वाले दर्शन को भौतिकवाद तथा उसके अनुयायियों को भौतिकवादी कहते हैं। कार्ल मार्क्स इसी दर्शन के पक्षधर थे।

इस मौलिक प्रश्न के उत्तरों में से किसे ग्रहण किया जाता है इस बात पर व्यक्ति एवं राष्ट्र के भाग्यों का निर्णय होता रहा है। आधुनिक काल का इतिहास साक्षी है कि विश्व एवं जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण ने दो महायुद्धों द्वारा पृथ्वी को मानव रक्त से रंजित किया है और आज अणु-युद्ध की विभीषिका ने तो मानव समाज को ही सर्वनाश के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया है।

साँचे में :—

कार्ल मार्क्स का जन्म सन् १८१८ में एक वकील के घर हुआ था। उनके पिता एक सुयोग्य एवं सफल वकील थे। उन्होंने विभिन्न विषयों का गहन अध्ययन किया था तथा १९वीं शताब्दी के प्रमुख फ्रेंच विचारकों के विचारों से वे परिचित थे। वे एक यहूदी पुरोहित परिवार के वंशधर थे। किंतु उन्होंने उस शताब्दी के नव-जागरण के विचारों को स्वीकार कर लिया था[1] तथा धर्म के संबंध में उनका चिन्तन स्वतंत्र था। धर्म के व्याव-

हारिक आचारों के प्रति वे उदासीन थे। मार्क्स के जन्म के कुछ समय पूर्व ही तत्कालीन जर्मनी में यहूदियों पर लगाये गये प्रतिबंधों से बचने के लिए उन्होंने अपने पैतृक यहूदी धर्म को त्याग कर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। मार्क्स की प्रारम्भिक शिक्षा उनके जन्म स्थान की पाठशाला में हुई।[2] अपने पिता के परामर्श से १७ वर्ष की उम्र में उन्होंने 'बोन विश्वविद्यालय' में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रवेश लिया। एक वर्ष पश्चात् १८३६ में उन्होंने बोन विश्वविद्यालय त्याग कर तत्कालीन जर्मनी के प्रसिद्ध विद्यापीठ 'बर्लिन विश्व विद्यालय' में प्रवेश लिया। यह घटना मार्क्स के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन विन्दु थी। क्योंकि यह कहा जा सकता है कि बर्लिन में ही मार्क्स के उन विचारों ने, जिन्हें परवर्त्ती काल में उन्होंने विस्तार पूर्वक लिपिबद्ध किया, निश्चित रूप धारण किया था।

उन दिनों बर्लिन विश्वविद्यालय में हीगल के दर्शन का ही वर्चस्व था। शिक्षा के सभी विभागों-उपविभागों में हीगल के विचारों का ही प्राधान्य था। यद्यपि बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के समय मार्क्स हीगल के विचारों से थोड़े बहुत परिचित थे तथापि अब उन्होंने उसका विस्तृत अध्ययन करने का निश्चय किया। जैसा कि इसीयाह बर्लिन लिखते हैं :—

"मार्क्स दृढ़ संकल्प पूर्वक हीगल की रचनाओं के गहन अध्ययन में डूब गया। वह दिन-रात पढ़ता रहा तथा तीन सप्ताह पश्चात उसने अपने संपूर्ण परिवर्तन की घोषणा कर दी।"[3]

निस्संदेह मार्क्स ने हीगल के विचारों को स्वीकार तो किया किन्तु किस सीमा तक वह उसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहा? क्या उसने उन्हें पूर्णतः स्वीकार कर लिया? नहीं। जैसा कि ठीक ही कहा गया है—"उसने (मार्क्स ने) हीगल के विचारों को उल्टा कर दिया।"[4] उसने हीगल के द्वन्द्वात्मक तर्क (dialectical logic) को तो माना किन्तु उसका उपयोग उसने इतिहास तथा समाज पर किया। इसने जीवन तथा संसार के प्रति उनके दृष्टिकोणों में आकाश पाताल का अंतर कर दिया।

मार्क्स के दर्शन को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भी कहते हैं) वस्तुतः यह दर्शन तत्कालीन यूरोप के तीन प्रमुख दार्शनिक विचारों का सम्मिश्रण है यथा जर्मन आदर्शवाद, आंग्ल राजनैतिक अर्थशास्त्र तथा फ्रेंच समाजवाद। मार्क्स हीगल से इस बात में तो सहमत हुआ कि जगत का विकास द्वन्द्वात्मक नियमों के अनुसार होता है, किन्तु हीगल की इस धारणा को कि विकास के पीछे की प्रेरक शक्ति एक पूर्ण शाश्वत चैतन्य तत्त्व (Absolute Idea or Spirit) है, मार्क्स ने अस्वीकृत कर दिया। मार्क्स की दृष्टि में जड़ पदार्थ ही प्रेरक शक्ति है। मार्क्स के दर्शन पर लिखते हुए बर्ट्रेन्ड रस्सेल कहते हैं :—

"हीगल के समान वह मानता तो है कि जगत का विकास द्वन्द्वात्मक नियमों के अनुसार होता है किंतु इस विकास के प्रेरणास्रोत के संबंध में वह उससे एकदम असहमत है। हीगल एक ऐसे रहस्यात्मक चैतन्य तत्त्व में विश्वास करता था जो कि द्वन्द्वात्मक नियम के स्तर के आधार पर मानव इतिहास के विकास का कारण होता है।"[6]

दृश्य जगत के पीछे एक शाश्वत चैतन्य तत्त्व की अस्वीकृति ने मार्क्स को एक उग्र जड़वादी तथा उनके दर्शन को एक उत्कट् जड़वाद बना दिया।

मार्क्स तथा मार्क्सवाद से अभिन्न रूप से जुड़ा दूसरा नाम है फ्रेड्रिक एन्जल्स। वे भी प्राशिया के ही थे। वे कपड़े के कारखाने के मालिक थे तथा विशेष प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। वे मार्क्स के विचारों से सहमत हुए, उनके साहित्यिक सहयोगी बने तथा आजीवन उनके मित्र रहे। अतः मार्क्स

के धर्म संबंधी विचारों की विवेचना में एंजिल्स के विचार भी सम्मिलत हैं। क्योंकि जब मार्क्स तथा एंजिल्स की मित्रता हुई तब तक वे दोनों संपूर्ण रूप से नास्तिक भौतिकवादी दर्शन के कट्टर अनुयायी बन चुके थे। वही दर्शन अब मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है जो कि धर्म के सभी रूपों का घोर शत्रु है।

मोती के धोखे में सीप :

धर्म के प्रति मार्क्सवाद के दृष्टिकोण को लेनिन ने एक वाक्य में व्यक्त किया है। "मार्क्सवादी को अवश्य ही जड़वादी अर्थात् धर्म का शत्रु होना चाहिए।"[7] धर्म के प्रति शत्रुता ही मार्क्सवाद का 'धर्म' हो गया है। मार्क्सवादियों ने यह 'धर्म' अपने गुरु मार्क्स से उत्तराधिकार में पाया है।

मार्क्स एक ऐसे परिवार से आये थे जिसमें धर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। राजनैतिक लाभ के लिए उनके पिता ने अपना यहूदी धर्म त्याग कर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। मार्क्स को परिवार में कभी धार्मिक शिक्षा दी गयी हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

बड़े होने पर युवक मार्क्स ने समाज में धर्म के नाम पर ईसाई धर्म का वह रूपदेखा था जिसमें से सारी आध्यात्मिकता समाप्त हो गयी थी तथा जो केवल चर्च के भीतर ही सिकुड़ गया था। तत्कालीन चर्चों ने विशाल संपत्ति बटोर रखी थी तथा इस संपत्ति की सुरक्षा के लिए वे राजाओं तथा जमींदारों के साथ साँठ-गाँठ कर जनसाधारण की उपेक्षा तो करते ही थे, आवश्यक होने पर उसका विरोध भी करते थे।

दूसरी ओर विज्ञान की नयी नयी खोजें, विशेषकर जीवशास्त्र तथा खगोल संबंधी आविष्कार ईसाई धर्म के इस सिद्धान्त पर वज्राघात कर रहे थे कि संसार का निर्माण केवल छह दिनों में ही होगया, वह भी मात्र कुछ हजार वर्षों पूर्व तथा यह कि मनुष्य आज जैसा है उसी रूप में उसका निर्माण हुआ था, वैसा नहीं जैसा कि चार्ल्स डारविन तथा उनके सहयोगियों ने विकासवाद की खोज के द्वारा दिखाया था। अतः वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्राप्त नवीन ज्ञान, संस्था-संकुचित ईसाई धर्म के किले पर कठिन प्रहार कर रहा था। परिणामस्वरूप ईसाई धर्म के तर्कहीन अंध विश्वास चीनी-मिट्टी के टुकड़ों की तरह चूर चूर हो रहे थे। फिर भी उनके पुरोहित और धर्म याजक उन्हीं अवैज्ञानिक तर्कहीन अंधविश्वासों से चिपके हुए थे तथा नव वैज्ञानिक ज्ञान की ज्योति को बुझा देने की व्यर्थ चेष्टा कर रहे थे।

१८ वीं तथा १९वीं शताब्दी के इन योरोपीय धर्मयाजकों तथा पुरोहितों ने ईसामसीह के महान उपदेशों को आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान के आलोक में समझने का कष्ट नहीं किया, उल्टे धर्मान्धतापूर्वक चर्च के अंधविश्वासों में ही जकड़े रहे। वास्तव में ईसामसीह के मौलिक उपदेशों में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसका वैज्ञानिक ज्ञान से विरोध हो। जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री' में लिखा है—

"यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि नाजरथ के मसीहा ईसा मसीह की शिक्षाओं में कुछ सारगर्भित नयी तथा रचनात्मक बातें थीं। उन्होंने मनुष्य के हृदय में स्वर्गीय राज्य के होने का उपदेश दिया। इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् जहाँ तक हम उनके उपदेशों का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हैं हमें उसमें ऐसा कुछ नहीं दीख पड़ता जिसका कि आविष्कारों अथवा विश्व इतिहास के विकास से कोई विरोध हो अथवा उसमें हस्तक्षेप करे। किन्तु यह भी इतिहास का उतना ही बड़ा सत्य है कि ईसा मसीह के सरल सारगर्भित तथ क्रांतिकारी उपदेशों में संत पाल तथा उनके अनुयायियों ने कुछ

और भी जोड़ दिया या अध्यारोप किया या उनके स्थान पर एक अन्य मतवाद को रख दिया, आप जैसा भी कहें, एक सूक्ष्म और जटिल मुक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। ऐसी मुक्ति जो अधिकांश में विश्वास तथा बाह्याचारों से ही प्राप्त की जा सकती थी तथा जिसके लिए विश्वास कर्त्ता को अपनी आदतों तथा व्यवसायादि में कुछ विशेष परिवर्त्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। पाल की इन शिक्षाओं में अवश्य ही विश्व तथा मनुष्य के इतिहास के संबंध में कुछ दृढ़ विश्वास थे।'[8]

अतः हम देखते हैं कि मार्क्स जिस धर्म से परिचित थे वह 'यह विश्व छह दिनों में शून्य से बनाया गया', 'आदमऔर हौआ, मनुष्य के प्रथम माता पिता के पतन के कारण हम सब लोग जन्म-जात पापी हैं आदि अंध विश्वासों तथा रूढ़ियों का एक गट्ठर मात्र था। एच० जी० वेल्स अत्यन्त समीचीन ढंग से इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे लिखते हैं:—

साम्प्रदायिक ईसाई धर्म ने पतन की इस घटना को सत्य मानकर, न कि नाजरथ के ईसामसीह के व्यक्तित्व पर, पाल के सिद्धांतों, पर न कि ईसा मसीह के उपदेशों पर अपना साम्प्रदायिक महल खड़ा किया।'[9]

यह थी कार्ल मार्क्स की व्यक्तिगत एवं सामाजिक धार्मिक भूमिका। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मार्क्स ने कभी सच्चे धार्मिक साहित्य का अध्ययन किया हो। धार्मिक साधना करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस धार्मिक भूमिका के साथ मार्क्स ने अपनी रचनाओं में धर्म के संबंध में कुछ निन्दनीय बातें लिखीं। यह अजीब सी बात है कि मार्क्स की धर्म संबंधी यह टिप्पणी उनके अनुयायियों के लिए वेद वाक्य बन गयी। उन्होंने भी इस टिप्पणी की सत्यता की परीक्षा करने का कभी कष्ट नहीं किया।

आइए, मार्क्स द्वारा की गयी कतिपय टिप्पणियों की परीक्षा करके देखें।

धर्म की कोई परिभाषा नहीं दी गयी

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उसकी एक स्पष्ट परिभाषा दी जाय और तब उसके गुण दोषों की परीक्षा की जाय। यह अद्भुत बात है कि मार्क्स एवं एंजिल्स जिन्होंने धर्म को विषवत त्याज्य कहा उन्होंने उसकी कोई परिभाषा नहीं दी। ऐसा लगता है कि उन्होंने यह मान लिया कि धर्म का जो अर्थ वे लोग समझते हैं दूसरे सभी लोग भी वही अर्थ समझते हैं।

दहलीज पर अटके रहे

एंजिल्स ने अपने दुहरिंग (Duhring) विरोधी प्रबंध में लिखा (मार्क्स ने जिसकी पाण्डुलिपि पढ़ी थी)—

सभी धर्म मनुष्य के दैनिक जीवन को नियंत्रित करने वाली बाह्य शक्तियों का उनके मन पर पड़ने वाले अद्भुत प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; ऐसा प्रतिबिम्ब जिसमें प्राकृतिक शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास के प्रारंभ में प्राकृतिक शक्तियाँ प्रथमतः इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई थीं तथा कालांतर में वही शक्तियाँ विकास क्रम की प्रक्रिया में कई गुनी परिवर्तित हो कर विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों के रूप में प्रचलित हुईं।[10]

यह है मार्क्सवादियों का धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त जिससे वे दृढ़ता पूर्वक चिपके हुए हैं। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए एक मार्क्सवादी विद्वान लिखते हैं:—

प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओं के असल कारणों के संबंध में अज्ञान तथा प्रकृति की रोमांचकारी स्वाभाविक शक्तियों एवं सामाजिक उत्पीड़न

के कारणों के अभाव में धर्म की उत्पत्ति को खोजा जा सकता है।"[11]

मार्क्सवादियों के मसीहा लेनिन ने एक कदम और आगे बढ़ श्रमिक वर्ग के भय एवं असहाय अवस्था में धर्म की जड़ों को देखा। वे लिखते हैं—

वर्त्तमान पूंजीवादी देशों में ये कारण मुख्यतः सामाजिक हैं। आज धर्म का सबसे बड़ा आधार है श्रमिकों की अत्यन्त गर्हित दशा और पूंजीवाद की निर्दय शक्ति के सम्मुख उनकी कातर असहाय अवस्था; जिसके कारण दिन-प्रतिदिन सामान्य श्रमजीवी पर मुसीबतों का पहाड़, अब असामान्य घटनाओं यथा युद्ध, भूकम्प आदि की अपेक्षा कई गुना अधिक टूट पड़ता है। 'भय से भगवान का जन्म हुआ'— पूंजीवाद की अप्रत्यक्ष शक्ति का भय, अप्रत्यक्ष इसलिए कि सामान्यजन को इसका पूर्वाभास नहीं हो पाता। यह शक्ति सर्वहारा वर्ग एवं छोटी पूंजी के मालिकों को जीवन के प्रत्येक कदम पर पीड़ा पहुँचाने की धमकी देती है तथा अप्रत्याशित एवं आकस्मिक विनाश, कगाली एव फटेहाली, भुखमरी एवं वेश्यावृत्ति आदि के रूप में वस्तुतः पीड़ा पहुँचाती भी है। ऐसा है आधुनिक धर्म के उद्भव का मूल स्रोत और भौतिकवादियों को विशेष रूप से इस बात को ध्यान में रखना चाहिए, यदि वह केवल स्कूली शिशु-भौतिकवादी बना रहना नहीं चाहता हो।"[12]

ऊपर उद्धृत लेखांशसमूह जो कि प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखकों की रचनाओं से लिये गये हैं, धर्म के प्रति मार्क्सवाद के संपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस सिद्धान्त का एक सरसरी अनुशीलन करने मात्र से पता चल जाता है कि मार्क्स एवं मार्क्सवादियों का यह दृष्टिकोण एकतरफा, भ्रामक एवं पक्षपातपूर्ण है।

धर्म उतना ही प्राचीन है जितनी कि सभ्यता स्वयं। मनुष्य में प्रगति एवं विकास की अभिलाषा जन्मजात है। मुक्ति विकास एवं प्रगति का चरम लक्ष्य है। मनुष्य बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को अधीन कर बंधन से मुक्ति की ओर प्रस्थान करता है। धर्म बंधन से मुक्ति की ओर मनुष्य की यात्रा का इतिहास है। इस यात्रा में मनुष्य ने विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों का सहारा लिया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृतिक शक्तियाँ ही धर्म एवं धार्मिक विचारधाराओं के वास्तविक प्रेरणा स्रोत रही हैं। स्वामी विवेकानन्द ने बहुत ही उपयुक्त ढंग से 'धर्म की आवश्यकता' नामक अपने व्याख्यान में इस तथ्य की व्याख्या की है। धार्मिक विचारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनीषियों ने दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। एक है मृतात्मा या प्रेतात्मा का सिद्धान्त (SPIRIT THEORY) तथा दूसरा है अनन्त की धारणा के क्रमविकास EVOLUTION OF THE IDEA OF THE INFINITE) का सिद्धान्त। एक विचारधारा के अनुसार धर्म एवं धार्मिक विचारों की उत्पत्ति पूर्वज-पूजा से हुई है। दूसरी विचारधारा के अनुयायियों का दावा है कि इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण से हुई है।

इन विचारों में भी कुछ सत्यता है। लेकिन वह अविकल पूर्ण सत्य नहीं है। धर्म का वास्तविक अभ्यन्तर या मर्मस्थान वहाँ नहीं है। ये सभी धर्म एवं धार्मिक विचारों के क्रम विकास की केवल अवस्थाएं हैं। ऊपरी रूप-रंग में ये दोनों विचार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने एक सामान्य आधार का आह्वान कर, जिस पर कि दोनों खड़े हैं, दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित किया। उनके अनुसार— "यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी लगते हैं, किन्तु उनका समन्वय एक तीसरे आधार पर किया जा सकता है, जो मेरी समझ में धर्म का वास्तविक बीज है और जिसे मैं इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने के लिए संघर्ष मानता हूँ।"[13]

मात्र भौतिक वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग की तुलना में मानवीय आकांक्षा की जड़ें तल में अत्यधिक गहरी हैं। मानव के भीतर इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने की अदम्य गहरी अभिलाषा है। एक बात तो निश्चित है कि मानव या तो पितरों की आराधना करके अथवा प्रकृति की विस्मयकारी शक्तियों की पूजा करके अपनी इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है तथा असीम सत्ता का प्रत्यक्ष बोध करना चाहता है। वास्तविक सत्ता की अपरोक्षानुभूति करने की यह आकांक्षा ही सभी धर्म एवं धार्मिक विचारों की जड़ है।

डॉ॰ राधाकृष्णन् के विचार हैं—"मानव मन भौतिक जगत् तक ही परिसीमित नहीं है। इसे ऊपर उठाकर इन्द्रियातीत एवं अनुभवातीत परम सत्ता के राज्य में पूर्णरूपेण तदाकार किया जा सकता है।"[14]

सभी देशों के साधु-संतों के जीवन इस बात के प्रमाण हैं कि परम सत्ता के साथ आंतरिक तदाकारिता प्राप्त करने का मानव मन की अभिलाषा ही सभी धार्मिक विचारों का मूलकारण रही है।

यह खेद का विषय है कि मार्क्स एवं एंजिल्स धर्म की दहलीज को ही मूलस्रोत समझकर वहाँ अटके रहे और उसे ही संपूर्ण सत्य समझ बैठे। इस तथ्य को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं कि उन्होंने कभी भी दहलीज के उस पार परम सत्ता के विशाल क्षेत्र की परख करने की कोशिश की। इस तरह उनके धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त अयुक्तियुक्त कल्पना पर आधारित थे, जिनसे गलत निष्कर्ष निकाले गये। (अगले अंक में समाप्य)

---

1. Englishment is an entrnal period distinguished by the fervent efforts of leading personalities to make reasons the absolute ruler of human life and to shed the light of knowledge upon the mind and conscience of any individual. The term is generally applied to the European Enlightenment stretching from the early 17th to the begining of lhe 19th century—

   The Dictionary of Philocophy, Edited by Dogobert—D. Runes.
2. Karl Marx, Isaih Berlin, Third Edition, Oxford University Press P—33.
3. Ibid, P—69.
4. History of Philosophy, Eastern & Western, Editiorial, Chairman Dr. S. Radhakrishnan Vol. II George Allen and Unwin, London P—403.
5. Mari Engles, Marxism, V.I Lenin. 8he Revised edition Progress Publishers, Moscow P.65.
6. History of Western Plilosophy, Bortrand Russell, new edition (Reset) 1961, George Allen & Unwin P—750.
7. Marx Engles Marxism OP. cit, P. 235.
8. The outline of History, H. G. Wells, Revised by Rooymond. Postgate-Caesell, London, Revised Edition 1961 P. 970
9. Ibid P 970
10. Marx Engles on Religion, 975, Progress Publishers Moscow P. 128
11. Marxist Phlilosophy V.G. Afanasyev, Progress Publishers, English, translation 1980. P.382
12. Marx Engles Marxism, O P, Cit, PP. 233·4
13. Camplete works of Swami Vivekananda, Vol II, 13th Edition 1976 P. 59.
14. Religion & Society, Dr. S. Radhakrishnan, George Allen and Unwin London, 2nd Edition 4th impression, P. 46.

भारतीय चिन्तन-परम्परा में रथ

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द
बेलुड़ मठ

जगन्नाथ की रथ यात्रा। यह नाम सुनते ही मन: चक्षु के समक्ष दृश्य उपस्थित होता है—लाखों नर-नारियों का जो प्रतिवर्ष आषाढ़ माह की शुक्ला द्वितीया को जगन्नाथपुरी जाकर इस महोत्सव में भाग लेते हैं, - अपार जनसमूह का, जो हर्षोल्लास के साथ 'जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे' बोलते हुए जगन्नाथ, बलराम तथा सुभद्रा के रथों को रस्सी को खींचते हुए जा रहा है। जात-पात के भेदभाव के बिना सभी इस महोत्सव में सम्मिलित होते हैं। केवल जगन्नाथपुरी में ही नहीं, देश के विभिन्न स्थानों में यह उत्सव सोल्लास मनाया जाता है। न मालूम कितनी शताब्दियों से यह प्रथा प्रचलित हुई है किन्तु इतना अवश्य है कि भारतीय संस्कृति तथा परम्परा का यह अभिन्न अंग बन चुकी है।

कहते हैं नौवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य ने जगन्नाथपुरी में ही 'जगन्नाथाष्टक' नामक अपने स्तोत्र की रचना की थी। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जगन्नाथ की रथ यात्रा में संकीर्तन तथा नृत्य को सम्मिलित कर राजा प्रतापरुद्र समेत सभी को परम आनन्द प्रदान किया था। हमारे समय में इस रथ यात्रा में अपनी तरह से भाग लिया था युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने। उन्होंने जगन्नाथ प्रभु का दर्शन कभी नहीं किया, चूंकि वे अपने आप को उनसे अभिन्न मानते थे और उन्हें विदित था कि वहाँ जाने पर उनकी देह धरातल पर नहीं रहेगी, वहीं पर विलय को प्राप्त होगी। किन्तु अपने भक्त श्रीबलराम बोस के भवन में १४ जुलाई १८८५ ई० में आयोजित रथयात्रा उत्सव में उन्होंने भाग लिया था। बलराम बोस परम भक्त थे, उनके घर में श्रीजगन्नाथ जी की नित्य सेवा हुआ करती थी (अब यह भवन 'बलराद मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है तथा रामकृष्ण मठ का एक केन्द्र है)। 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' में इस अवसर का सचित्र वर्णन इस प्रकार है—

"पिछला प्रहर हो आया। इस समय बरामदे में श्रीजगन्नाथदेव का वही छोटा रथ ध्वजा-पताकाओं से सुसज्जित करके लाया गया है। जगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलराम चन्दन चर्चित तथा वसन-भूषण और पुष्पमालाओं से सुशोभित हैं। श्रीरामकृष्ण वनवारी का कीर्तन छोड़कर बरामदे में रथ के सामने चले गये। साथ साथ भक्तगण भी गये। श्रीरामकृष्ण ने रथ को रस्सी पकड़ जरा खींचा, फिर रथ के सामने भक्तों के साथ नृत्य और कीर्तन करने लगे। छोटे बरामदे में रथ चलने के साथ ही कीर्तन और नृत्य हो रहा है। उच्च संकीर्तन और खोल का शब्द सुनकर बहुत से बाहर के लोग वहाँ आ गये। श्रीरामकृष्ण भगवत् प्रेम से मतवाले हो रहे हैं। भक्तगण प्रेमोन्मत्त हो साथ-साथ नाच रहे है।" (श्रीरामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृ० —२२७-२२८)

रथ यात्रा की यह प्राचीन परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। कब से यह रथयात्रा का उत्सव प्रारंभ हुआ इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। चीन के पर्यटक फाह्यान ने पंचम शताब्दी में अपनी भारत यात्रा के वर्णन में भगवान बुद्ध के जन्मोत्सव के

उपलक्ष में आयोजित दो रथयात्राओं का वर्णन किया है। कुछ लोगों के अनुसार बुद्धदेव की यह रथयात्रा ही बाद में जगन्नाथ की रथयात्रा में परिणत हो गयी। किन्तु पद्म पुराण, स्कन्द पुराण आदि में जगन्नाथ की रथयात्रा का उल्लेख होने से तथा इन पुराणों का रचनाकाल गुप्त युग में होने से (चतुर्थ शताब्दी) यह मत समीचीन नहीं लगता है। इसके अलावा कुर्म, भविष्य, वाराह, मत्स्य आदि प्राचीनतम पुराणों में जगन्नाथ रथयात्रा को छोड़कर अन्य प्रकार की रथयात्राओं का वर्णन है। इससे भी सिद्ध होता है कि देवताओं की रथयात्रा भारतीय परम्परा का अभिन्न अंग है।

रथ के कई प्रसंग हमारे धर्मग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है—अक्रूर रथ में श्रीकृष्ण तथा बलराम को बैठाकर वृन्दावन से मथुरा ले जा रहे हैं तथा ब्रज गोपिकाएँ विरह में क्रन्दन कर रही हैं। गीता के प्रारंभ में ही अर्जुन 'कपिध्वज' वाले अपने रथ के सारथी श्रीकृष्ण भगवान को कहता है—"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।" (गीता, प्रथम अध्याय—२१)। रामचरित मानस में भी रथ के कई प्रसंग आते हैं जब सुमन्त्र राजा दशरथको रथ में बैठाकर बारात के साथ जनकपुर ले जाते हैं तथा भगवान राम को सीता तथा लक्ष्मण सहित रथ में बैठाकर वनवास के लिए ले जाते हैं। 'राम चरित मानस' में भगवान राम विभीषण से धर्म रूपी रथ का सुन्दर वर्णन करते हैं—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होई सो स्यंदन आना।१।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।२।

बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे॥३॥

ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति धर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥४॥

अमल अचल मन गोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा॥५॥

सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीत न कह न कहहुँ रिपु ताकें॥६॥

"सखे! सुनो, जिससे जय होती है, वह रथ दूसरा ही है। शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और शील (सदाचार) उसकी मजबूत ध्वजा और पताका हैं। बल; विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होना) और परोपकार—ये चार उसके घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े हुए हैं। ईश्वर का भजन ही (उस रथ को चलानेवाल) चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है। दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल (पापरहित) और अचल (स्थिर) मन तरकस के समान है। शम (मन का वश में होना), (अहिंसादि) यम और (शौचादि) नियम, ये बहुत से वाण हैं। ब्राह्मणों और गुरु का पूजन अभेध कवच है। इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं है। हे सखे! ऐसा धर्ममय रथ जिसके हो उसके लिए जीतने को कहीं शत्रु नहीं है। हे धीर बुद्धिवाले सखा! सुनो, जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर संसार (जन्म-मृत्यु) रूपी महान दुर्जेय शत्रु को भी जीत सकता है।"

रथ के उदाहरण को माध्यम बनाकर उच्चतम शिक्षा प्रदान की गयी है—'कठोपनिषद्' में। 'यमराज नचिकेता से आत्मतत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणी हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
यस्त्वविज्ञानवान भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली, ३-९)

"तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम समझ। विवेकी पुरुष इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं तथा उसके घोड़े रूप से कल्पित किये जाने पर विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। किन्तु जो (बुद्धिरूप सारथी सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहती जैसे सारथी के अधीन दुष्ट घोड़े। परन्तु जो (बुद्धिरूप सारथी) कुशल और सर्वदा समाहित-चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथी के अधीन अच्छे घोड़े। किन्तु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला होता है वह उस पद को प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत संसार को ही प्राप्त होता है। किन्तु जो विज्ञानवान्, संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है वह तो उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से वह फिर उत्पन्न नहीं होता। जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि रूपी सारथी से युक्त और मन को वश में रखने वाला होता है वह संसार मार्ग से पार होकर उस विष्णु (व्यापक परमात्मा) के परमपद को प्राप्त कर लेता है।"

धर्मग्रन्थों की प्रसिद्ध वाणी है 'रथे तु वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' रथ में स्थित वामन अर्थात् विष्णु का दर्शन करने से पुनर्जन्म नहीं होता इसीलिए सभवतः श्री जगन्नाथ की रथयात्रा को देखने लाखों श्रद्धालु नर-नारी उमड़ पड़ते हैं। किन्तु जो इस रथयात्रा को नहीं देख पाते चाहे श्रद्धा के अभाव में या अन्य किसी कारण से, उनके लिए क्या उपाय है? कठोपनिषद् में इस वामन शब्द की व्याख्या आत्मा के रूप में की गयी है—

"मध्ये वामनमासीनं विश्वे देव उपासते।"
(कठोपनिषद् २।२।३)

"हृदय के मध्य में रहनेवाले उस वामन भजनीय को सब देव उपासना करते हैं।"

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।"
(कठोपनिषद २।१।१२)

"अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीर के मध्य में स्थित हैं।" मानवमात्र का कर्तव्य है कि देह में स्थित इस वामन अर्थात् आत्मा का दर्शन करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थों ने साधारण मानव के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से रथ के प्रसंग द्वारा उच्चतम तत्त्वज्ञान को सुलभ कर दिया है।

स्वामी विवेकानन्द कठोपनिषद् को इसकी सुन्दर कवित्वपूर्ण शैली के लिए सर्वोत्तम उपनिषद् के रूप में मानते थे। इसी उपनिषद् से उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध सन्देश चुना—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" इस वाक्य का अर्थ होता है—"उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।" किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने इसका भावार्थ इस प्रकार किया—उठो, जागो

और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।' इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द सभी को अज्ञाननिद्रा से जगाकर उस परम पद की प्राप्ति के लिए अनवरत संघर्ष करने के लिए आह्वान करते हैं और उपनिषद् की वाणी को नयी स्फूर्ति के साथ झंकृत करते हैं। रथयात्रा के उत्सव के उपलक्ष में हम स्वामी विवेकानन्द से यही प्रार्थना करें कि हमारे बुद्धि रूपी सारथी को विवेक प्रदान करें ताकि हमारी रथयात्रा सफल हो और हम परमपद को प्राप्त कर सकें।

□

भक्ति की दुर्लभता

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

भक्ति भगवान को पाने का सबसे सरल सहज एवं सुगम उपाय माना जाता है। स्वयं भगवान् श्रीरामकृष्ण का कथन है कि कलिकाल में नारदीय भक्ति ही सबसे उपयुक्त मार्ग है। ज्ञानयोग के लिए विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति-युक्त उत्तम अधिकारी की आवश्यकता होती है। राजयोग की सफलता के लिए यमनियमादि की साधना आवश्यक है। लेकिन भक्ति के लिए इस प्रकार की पूर्व तैयारी की आवश्यकता नहीं समझी जाती। चाहे कोई दुराचारी ही क्यों न हो, नीच कुल में जन्मा अनपढ़ व्यक्ति ही क्यों न हो, वह यदि चाहे तो भगवत्-भक्त हो सकता है। यह बात भगवान् स्वयं गीता में स्वीकार करते हैं तथा सन्त--साहित्य में भी बाल्मीकि अजामिल गणिका पिंगला आदि अनेक सन्तों के दृष्टान्त भी प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि भक्ति के द्वार आबाल-वृद्ध, ब्राह्मण-शूद्र, धनी-निर्धन, मूर्ख विद्वान, सभी के लिए खुले हैं।

लेकिन क्या भक्ति सचमुच इतनी सरल है? माँ सारदा कहती हैं कि भगवान् मुक्ति देने में संकोच नहीं करते, बल्कि भक्ति देने में सुकुचाते हैं, क्योंकि भक्ति देने से वे भक्त के हाथों बँध जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द (श्रीकृष्ण के गीता-गायक रूप से गोपी-जनवल्लभ रूप को, उच्चतर एवं) गोपी प्रेम को धर्म जगत की उच्चतम, अभिव्यक्ति मानते हुए भी उसका उपदेश या प्रचार नहीं करते थे। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य, प्रेमावतार स्वामी प्रेमानन्द जी ने भी स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रारंभ किये गये शिवज्ञान से जीवसेवा रूप धर्म का ही प्रचार किया है। प्रेम अथवा भक्ति का नहीं। एक सभा में जब उन्हें प्रेम एवं भक्ति पर कुछ बोलने को कहा गया तो उन्होंने तेजोदीप्त कंठ से कहा कि यहाँ कोई अधिकारी ही नहीं है, जिसे भक्ति की बात कही जा सके। भक्ति के लिए अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण देने के लिए भी तैयार रहना होता है।

भक्ति सहज एवं सरल इसलिए है कि सभी प्राणी प्रेम करने में समर्थ हैं। किसी न किसी वस्तु या व्यक्ति को सभी प्रेम करते हैं। वह दुर्लभ इसलिए है कि ईश्वर को —जो अपूर्व है, जाना या देखा नहीं जाता—प्रेम करना कठिन है। और जिस प्रकार के निःस्वार्थ प्रेम से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है वह तो और भी कठिन है। यह कठिनाई प्रेम के

स्वरूप को समझने पर और भी स्पष्ट हो जायेगी।

प्रेम का अर्थ एवं प्रकार—

प्रेम किसे कहते हैं? प्रेम का अर्थ है "प्रियस्य भावं।" प्रियत्व से संबन्धित भाव प्रेम कहलाता है। जो वस्तु या व्यक्ति मुझे सुख प्रदान करता है, वह मेरा प्रिय है, और मेरा उसके प्रति जो भाव है, वह प्रेम हुआ। एक वस्त्र विशेष, पुस्तक, घड़ी, पेन, मोटर कार, सुन्दर प्राकृतिक दृश्य आदि जो विभिन्न जड़ वस्तुएँ हमें सुख प्रदान करती हैं, हमें प्रिय हैं; उन्हें हम प्रेम करते हैं। प्रेम की इस परिभाषा में प्रेम करने वाले व्यक्ति का सुख ही प्रमुख मापदंड रहता है। संसार में इसी प्रकार का प्रेम प्राणियों के बीच, स्त्री पुरुषों एवं परिवार के सदस्यों के बीच भी देखा जाता है। स्त्री-पुरुष में आकर्षण, विवाह एवं पुनः तलाक या विभाजन ऐसे ही स्वार्थ परक प्रेमों की परिणति होती है, जहाँ स्वयं का सुख एवं भोग ही लक्ष्य होता है। इसी को लक्ष्य करके उपनिषदकार कहते हैं कि पति के लिए पति प्रिय नहीं होता अरे, वह तो स्वयं के लिए (आत्मा के लिए) प्रिय होता है। "पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, स्वयं के लिए प्रिय होती है। "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।" इत्यादि। तात्पर्य यह कि इन सभी प्रेमों में स्वार्थ ही प्रधान होता है और इन्हें स्वार्थ की संज्ञा देना ही उपयुक्त होगा। थोड़े से विश्लेषण से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। पंचदशीकार स्वामी विद्यारण्य बच्चे को प्यार करते पिता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि पिता बच्चे को गोद में लेकर चुम्बन करता है; पिता की दाढ़ी के बाल बच्चे को गड़ते हैं और वह रोता है, लेकिन पिता को आनन्द मिलता है और वह बालक को छोड़ता नहीं। (अगर पाश्चात्य मनोविज्ञ फ्रायड, इसे काम की संज्ञा दें तो दोष ही क्या है?) कभी-कभी तो लोगों को जान बूझकर बच्चों को रुलाने में और बाद में गोद में लेकर पुचकारने में आनन्द आता है। इसी प्रकार की मनः स्थिति का विकृत रूप—प्रेम के पात्र को कष्ट देने में आनन्द का अनुभव करना—एक प्रकार का मानसिक रोग है।

प्रेम की दूसरी श्रेणी में प्रेमी प्रेम के पात्र को सुख प्रदान करना चाहता है और स्वयं भी सुख प्राप्त करता है। जैसे माता बालक को देखकर प्रसन्न होती है, और साथ ही बालक को सुखी एवं प्रसन्न रखने का भी भरसक प्रयत्न करती है। उसे कष्ट होने पर मां को भी कष्ट होता है। लेकिन इसमें भी स्वार्थ की गंध रहती है। माता यह अपेक्षा करती है कि बड़ा होकर पुत्र उसका भरण पोषण करेगा। इस प्रकार के सांसारिक, आपातनिःस्वार्थ प्रेम को इंगित करते हुए ही कहावत हो गयी है कि संसार में कोई अपना नहीं है, सभी पराये हैं। श्रीरामकृष्ण विभिन्न कथाओं एवं दृष्टान्तों से यह बात सांसारिकों में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए कहा करते थे। डाकू रत्नाकर जो परिवार के सदस्यों के अपने पाप में भागी होने में अनिच्छुक होने के कारण वैराग्य वान हो, वाल्मीकि बन गये, का दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है।

ऐसी बात नहीं कि सभी सांसारिक सम्बन्ध स्वार्थपूर्ण ही होते हैं। इनमें ऐसे अपवाद भी पाये जाते हैं, जहाँ प्रेमी प्रेम के पात्र के सुख के लिए सदा त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। तथा जिस प्रेम में स्वार्थ अथवा आसक्ति का लेशमात्र भी नहीं होता। लेकिन ऐसे दृष्टान्त विरले ही होते हैं। एक पिता की कथा है, जिसे वृद्धावस्था में एकलौता पुत्र प्राप्त हुआ था। पिता का सारा दिन बालक की सेवा सुश्रूषा में ही बीतता। बालक को नहलाना, भोजन कराना, उसके साथ खेलना, गोद में या कन्धे पर चढ़ा कर सैर को ले जाना, आदि में ही सारा समय व्यतीत होता। रात्रि को पुत्र सोता तो पिता उसकी रखवाली करता और यह देखता कि कहीं उसे कोई कष्ट तो नहीं हैं। तात्पर्य यह कि वह पुत्र

वृद्ध पिता के जीवन का केन्द्र बिन्दु, प्रेम का एक-मात्र पात्र बन गया था। दैवयोग से १५ वर्ष की उम्र में अचानक पुत्र रोगग्रस्त हो गया, रोग ने शीघ्र गंभीर-रूप ले लिया। पिता ने पुत्र की चिकित्सामें कोई कसर नहीं रखी लेकिन कोई परिणाम नहीं हुआ। जब पुत्र का अन्तिम समय निकट आया तो पिता ने उससे पूछा कि इतने वर्षों में कभी उसे कोई कष्ट तो नहीं हुआ था। बालक ने सजल नेत्रों से स्वीकार किया कि उसे कोई असुविधा नहीं हुई थी। इसके तत्काल बाद पुत्र की मृत्यु हो गयी। लोगों ने तो यही समझ रखा था कि पुत्रगत प्राण पिता भी अब नहीं बचेगा। लेकिन उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पिता को पुत्र को मृत्यु का किंचित् भी खेद नहीं हुआ। वह पूर्ववत् अपनी दिनचर्या निभाता रहा।

जैसा कि अभी कहा गया इस प्रकार के विशुद्ध प्रेम के दृष्टान्त बहुत बिरले हैं जिसमें स्वार्थ आसक्ति अथवा प्रतिदान की अपेक्षा बिल्कुल ही न हो। पिता, माता, पुत्रादि संसार में निःस्वार्थ भाव से अपने सम्बन्धियों की कर्त्तव्य के रूप में सेवा-सुश्रूषा करते देखे अवश्य जाते हैं लेकिन कर्त्तव्य के साथ यदि प्रेम न हो तो वह भार स्वरूप हो जाता है। अगर कर्त्तव्य कर्म है तो प्रेम उसको रसमय बनाने वाला भाव है। प्रेम, कल्याण-कामना, प्रिय को सुख पहुँचाने की इच्छा का ही दूसरा नाम है ऐसा कहना ही उपयुक्त होगा।

ईश्वर से प्रेम करना कठिन—

भक्ति की दूसरी समस्या है, अमूर्त, अदृश्य ईश्वर से प्रेम कर पाना। स्थूल, दिखाई देने वाली जड़ अथवा चेतन वस्तु या व्यक्ति से तो प्रेम किया जा सकता है, लेकिन अदृश्य ईश्वर से प्रेम कैसे करें? कुछ भाग्यवान् शुभ संस्कार युक्त बालकों को छोड़कर जो जन्म से भगवान को प्यार करते हैं यह समस्या सभी के साथ है। आस्तिक संस्कार सम्पन्न परिवार में जन्म लेने वाले बालकों में बाल्यकाल में भगवान के प्रति सरल आकर्षण अवश्य दिखाई देता है, लेकिन वयप्राप्ति एवं बौद्धिक विकास के साथ-साथ यह क्षीण होकर औपचारिकता मात्र रह जाता है। फिर भी, भगवान् हैं, ईश्वर नामक एक सत्ता है, जिससे प्रेम किया जा सकता है, तथा जो, प्रेम का प्रतिदान दे सकते हैं, ऐसा विश्वास भक्ति के विकास में बहुत सहायक होता है। वस्तुतः इस विश्वास के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती।

भगवद्भक्ति के विभिन्न स्तर—

भक्ति का प्रारंभ सामान्यतः ईश्वर को किसी मूर्त्ति चित्र आदि प्रतीक की औपचारिक एवं सकाम पूजा से होता है। विधि-हीन, मन्त्र हीन, एवं दंभ-पूर्ण पूजा तामसिक कही गयी है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि पूज्य के लिए सबसे निकृष्ट वस्त्र, फल आदि का उपयोग किया जाता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि पूजक-भक्त को यह विश्वास ही नहीं है कि जिस मूर्त्ति की पूजा की जा रही है वह वस्तुतः उसके इष्ट का प्रतीक है तथा यह कि उसमें उसके इष्ट का आविर्भाव हुआ है।

इससे श्रेष्ठतर पूजा वह है, जिसमें भक्त ऐसी वस्तुओं को प्रभु को अर्पित करता है, जो उसे सबसे प्रिय लगती हैं। भगवान् के विग्रह को सुवर्ण-रत्नादि के आभूषणों, सुन्दरतम वस्त्रों, आदि से अलंकृत करना इसी का एक रूप है। लेकिन यहाँ भी भक्त अपनी इच्छा एवं मान्यतानुसार ही भगवान को श्रेष्ठ वस्तुएँ देता है। भगवान के लिए सुवर्ण, रत्नादि का मूल्य नहीं है। ये वस्तुएं तो भक्त की दृष्टि में मूल्यवान हैं। भक्त इनके द्वारा प्रभु को सजाकर स्वयं सुख का अनुभव करता है। यहाँ भी भक्त की स्वयं की इच्छा पूर्त्ति ही मुख्य है।

उच्चतर श्रेणी की पूजा में इष्ट देवता की

विधि विशेष के अनुसार पूजा करनी पड़ती है। वहाँ स्वयं की इच्छानुसार कार्य करने, पूजा करने की छूट नहीं है। काली की पूजा एवं शिव की पूजा में अन्तर है। श्री रामकृष्ण के भोग में सूजी की पायस देनी पड़ती है। प्रारंभिक स्थिति में भक्त श्रीरामकृष्ण को अलंकारों से सुसज्जित भले ही करे लेकिन भक्ति के प्रगाढ़ होने पर वह अनुभव करेगा कि जो कभी धातु को स्पर्श नहीं कर सकते थे, उन्हें आभूषणों अथवा जरीदार मूल्यवान वस्त्रों से सजाना उचित नहीं है।

उच्चतम स्थिति में भक्त इष्ट की जीवन-सत्ता का अनुभव करने लगता है, तब वह विधिनिषेधों के पार चला जाता है। उसकी इच्छा और इष्ट की इच्छा एक हो जाती है। उसकी पूजा भी पूर्णरूप से अनौपचारिक हो जाती है। श्रीरामकृष्ण की ऐसी ही विधि हीन पूजा देखकर कालीमन्दिर के अन्य-लोग उन्हें पागल समझने लगे थे।

भक्ति के चरमविकास में तो भगवान् स्वयं भक्त की इच्छा के अधीन हो जाते हैं और उसके लिए अनेक कष्ट सहने से भी नहीं हिचाकिचाते। भगवान ने को अपनी इच्छानुसार चलाने वाले भक्तों के अनेक दृष्टान्त भक्ति शास्त्रों में पाये जाते हैं। भगवान शबरी की भक्ति के वशीभूत होकर जूठे बेर खाये थे—जब कि विधान यह है कि अपने पूज्य को कभी जूठी वस्तु नहीं दी जानी चाहिए। मसखरे लोग तो यहाँ तक कहने से नहीं चूकते कि जिस दिन भगवान ने शबरी के प्रेम वश ढेर सारे जंगली बेर खा लिए, उस रात उनके पेट में दर्द हो गया और लक्ष्मण को रात में जंगल से जड़ी बूटियाँ खोजकर उनका उपचार करना पड़ा। सत्य तो यह है कि भक्त कभी भी न तो भगवान् से कुछ चाहता है, और न ही उन्हें किसी प्रकार का कष्ट देना चाहता है। श्रीरामकृष्ण एक सुन्दर कथा द्वारा यह समझाया करते थे। तीन व्यक्ति एक जंगल में जा रहे थे, अचानक शेर की दहाड़ सुनाई दी। पहला व्यक्ति डर कर बोला, शेर हमें खा जायेगा। दूसरे ने कहा कि डरने की कोई बात नहीं, भगवान् को पुकारो, वे हमारी रक्षा करेंगे। लकिन तीसरे ने कहा, इतने से के लिए भगवान को कष्ट देने की क्या आवश्यकता? चलो पेड़ पर चढ़ जायें। प्रथम व्यक्ति में भगवान् के प्रति विश्वास ही नहीं है, लेकिन ठीक ठीक भक्ति तो तीसरे व्यक्ति को ही है।

भगवद्भक्ति की साधना के चरण—

(१) स्वधर्म पालन एवं संयम—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि भगवद्भक्ति के लिए प्रेम, निःस्वार्थता एवं विश्वास आवश्यक है। सर्वप्रथम एवं सबसे कठिन साधना तो निःस्वार्थता की है। निःस्वार्थ एवं पवित्र हुए बिना भगवान में विश्वास दृढ़ नहीं होता और प्रेम भी नहीं उपजता। इसीलिए प्रारंभ में स्वधर्म एवं प्रस्तुत कर्त्तव्य पालन को इतना महत्व दिया गया है। इसके साथ ही साथ मनः संयम एवं इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है।

(२) त्याग एवं सेवा—भगवान् से प्रेम करने के पूर्व हमें अपने सांसारिक संबंधों को पवित्रतर एवं स्वार्थ रहित करना होगा। सदा दाता बनने का, दूसरों की सेवा करने का, प्रयत्न करना चाहिए। हम सदा ही श्रेष्ठतर वस्तु अपने लिए रखकर निकृष्टतर दूसरों को देना चाहते हैं। स्वयं का सुख खोजना हमारे स्वभाव का अभिन्न अंग बन गया है। अतः भगवद्भक्ति की प्राप्ति की सर्वप्रथम साधना है, दूसरों की निःस्वार्थ निष्काम सेवा। त्याग और सेवा ही भक्ति के आधार हैं। बिना इनमें प्रतिष्ठित हुए भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। दुर्भाग्य तो यह है कि हमारा जीवन इतना रिक्त, अपूर्ण एवं छिछला है कि हम उसे पूर्ण करने के लिए संसार में इधर-उधर छीना-झपटी करते रहते हैं, और क्षुद्र सांसारिक खिलौनों द्वारा मन

बहलाने का प्रयत्न करते हैं। हमें इस बात की कल्पना तक नहीं है कि निःस्वार्थ प्रेम के बिना आत्मा कभी तृप्त एवं सन्तुष्ट नहीं हो सकती। और यह प्रेम देने से ही प्राप्त होता है। अतः भक्ति के अभिलाषी साधक को सर्वप्रथम सभी सांसारिक आशा आकांक्षाओं का त्याग कर देना चाहिए। वह संसार को केवल देवे। यदि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो भगवान् से माँगे।

(३) **सकाम भक्ति** – संसार से माँगने के बदले भगवान् से ही माँगना दूसरा चरण है। सकाम भक्ति में कोई दोष नहीं है। भगवान् स्वयं गीता में आर्त, अर्थार्थी जिज्ञासु एवं ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों की बात करते हैं और सभी को अच्छा बताते हैं। लेकिन भगवान से सांसारिक सुख-सुविधा की याचना करना तो मानो किसी राजाधिराज से लोकी-परवल माँगने जैसा हुआ। भगवान से यदि माँगना ही हो तो ज्ञान भक्ति, विवेक, वैराग्य माँगना चाहिए।

(४) **निष्काम वैधी भक्ति**— भगवान् के प्रति प्रेम व आकर्षण आसानी से नहीं उपजते। अतः प्रारंभ में विधि विधान के अनुसार कुछ अनुष्ठान करना होता है। जिस प्रकार चन्दन के घिसने से, एवं फूलों को हिलाने हुलाने से उनकी गंध आती है, उसी प्रकार भगवान् की पूजा, प्रार्थना, स्तोत्र-स्तुति पाठ आदि करने से उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। इसीलिए विधिवत् पूजा करने का विधान है। दिन भर में एक या दो बार बैठकर निर्धारित संख्या में जप करना भी इसी विधि का अंग है। भजन कीर्तन एवं स्तोत्रपाठादि से भी भगवान् के प्रति प्रेम उपजने में सहायता मिलती है। नियम विशेष में स्वयं को बाँधने से स्वयं की इच्छा के त्याग में भी सहायता मिलती है।

(५) **सेव्य सेवक भाव**—

सांसारिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिए जिस सेवा भाव को आश्रय एवं प्रोत्साहित किया था; उसे ही अब प्रभु की ओर मोड़ देना चाहिए। प्रभु सेव्य हैं, स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ, यह भाव अत्यन्त शुद्ध एवं कल्याणकारी है। इसमें अहंकार का लेश नहीं आता एवं दीनता बनी रहती है। इसी के प्रगाढ़ होने पर प्रभु के प्रति अपनत्व एवं निकटता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है।

●

ईश्वर से बढ़कर साध्य या लक्ष्य और हो ही क्या सकता है? स्वयं परमात्मा ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। उसी के दर्शन करो। उसी का आनन्द लूटो। हम ईश्वर से बढ़कर अन्य किसी उच्च वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर पूर्णस्वरूप है। हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनन्द की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस 'प्रेम' शब्द का अर्थ भिन्न है। अपने बच्चों और स्त्री के प्रति हमारा जो प्रेम होता है, वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतया निःस्वार्थ हो वही 'प्रेम' है और वह ईश्वर का प्रेम है।

स्वामी विवेकानन्द
(वि. सा. सं; पृ.-४८)

दो कविताएँ

—श्री रमा कान्त सिंह
व्यवस्थापक, बेतिया राज, बेतिया

पशु और आदमी

चौराहे पर खड़े
दार्शनिक से
आदमी के बच्चे ने
जाननी चाही
परिभाषा
आदमी रूपी जीव की ।

बोला वह दार्शनिक—
"प्रकृति का शब्द-कोश
देखो उलटकर
बताता है—
कीड़े-मकोड़े
पशु और पक्षी
जीव हैं धरती के
उद्देश्य उनके जीवन का
अपने लिए जीना
करना
पालन और पोषण
मात्र अपने बच्चों का ।
इनसे जो भिन्न है
वही है
आदमी ।"
बालक वह
आज भी
ठोकरें खाता फिर रहा
खोज में
उस परिभाषित आदमी की ।

तस्वीर में टँका हुआ आदमी

तस्वीर में टँका हुआ आदमी ।
तस्वीर जहाँ टाँगो
आदमी टँगा रहेगा
चुप्प-घुप्प, जड़-तड़
मौसम बदलता है
बदले
उसे मौसम से क्या लेना !
कालिख पोत दो ऊपर
भीतर यथावत पड़ा रहेगा
टुकड़े कर
नमक मिर्च रखकर
चबेना खाओ
पानी में डुबो दो
वह अपने होने पर होता रहेगा ।

तस्वीर में टँका हुआ आदमी
अमेरिका में टांग दो
रूस में टांग दो
टंगना उसकी नियति है
जहाँ टांगो, टंगा रहेगा ।

तस्वीर में टँके हुए आदमी
वह, तुम और मैं ।

विश्वास की शक्ति

—ब्रह्मचारी चन्द्रकांत
बेलुड़ मठ

विश्वास की महिमा का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणो
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीस्वरम्

अर्थात श्रद्धा एवं विश्वास स्वरूप भवानी तथा शंकर जी की मैं वन्दना करता हूँ जिनकी कृपा के बिना सिद्ध मुनि अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर पाते हैं। श्रीरामकृष्ण देव भी कहते थे—उपाय है विश्वास, गुरुवाक्य पर विश्वास रखकर चलना होगा, तभी होगा,।

स्वामीजी ने भी कहा है विश्वास विश्वास; अपने आप पर विश्वास, परमात्मा के ऊपर विश्वास – यही उन्नति करने का एकमात्र उपाय है।

श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में दिव्यभाव की सर्वोच्च अभिव्यक्ति विश्वास की शक्ति से ही हुई थी। यहाँ पर उसी की चर्चा करूँगा।

श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन में दिव्यभाव में आविष्ट होकर जो लीलाएँ की थीं उनमें दो घटनाओं को हम सर्वोच्च मानते हैं क्योंकि इन दोनों घटनाओं में उन्होंने अपने आपको अवतार के रूप में प्रकट किया था तथा साथ ही उपस्थित सभी भक्तों पर कृपा की थी। इन दोनों घटनाओं के मूल में थे श्री गिरीशचन्द्र घोष। श्री गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण देव के गृहस्थ शिष्य थे तथा श्रीरामकृष्ण देव उन्हें भैरव का अवतार कहते थे। भैरव माने शिवजी का अनुचर! अतएव उन्हें हम विश्वास का प्रतीक समझ सकते हैं। श्रीरामकृष्ण देव भी उनके विश्वास की प्रशंसा करते थे।

गिरिशचन्द्र घोष के माध्यम से जो पहली घटना हुई वह श्यामपुकुर में। श्रीरामकृष्ण देव उन दिनों चिकित्सा हेतु कलकत्ते के श्यामपुकुर मुहल्ले में एक किराये के मकान में निवास कर रहे थे। काली पूजा का अवसर निकट आ गाया था। पूजा के एक दिन पहले श्रीरामकृष्ण देव भक्तों को एकाएक कह बैठे कि पूजा के उपकरण संग्रह कर रखना। कल काली पूजा करनी होगी। भक्त लोग इस बात से आनन्दित हुए तथा उन्होंने गंध, पुष्प, धूप, दीप, फल, कन्द, एवं मिष्टान्न संग्रह करके रखा। उन लोगों ने यह स्थिर किया कि श्रीरामकृष्ण देव जैसा कहेंगे वैसा किया जायगा। किन्तु पूजा का आधा समय बीतने पर भी श्रीरामकृष्ण देव ने और कोई बात नहीं कही। यह देख कर भक्तगण उनके कमरे के पूर्व की ओर का कुछ भाग धो पोंछकर जुटायी हुई सामग्री को वहाँ लाकर रखने लगे। श्रीरामकृष्ण ने यह सब देख कर कुछ नहीं कहा। क्रमशः सारे उपकरण लाये गये और धूप दीप जला दिये गये। प्रकाश और सौरभ से कमरा भर गया। उस समय भी श्रीरामकृष्ण देव के प्रति असीम विश्वास रहने के कारण गिरीशचन्द्र घोष के हृदय में उसी समय यह भाव हुआ कि श्रीरामकृष्ण देव के शरीर में ही श्रीजगदम्बा विराजमान हैं, इसलिए इस जीवित मूर्त्ति में ही श्री जगदम्बा की पूजा करके भक्त लोगों को धन्य होना चाहिए। ऐसा सोचकर वे

उल्लास से अधीर हो उठे और सामने के फूल चन्दन आदि लेकर "जय माँ" कहते हुए उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के चरणकमलों में पुष्पांजलि अर्पित की। श्रीरामकृष्ण देव का सारा शरीर इससे सिहर उठा और वे गंभीर समाधि में लीन हो गये। उनका मुखमण्डल ज्योतिर्मय तथा अलौकिक हास्य से खिल उठा। दोनों हाथ "वर" और "अभय" ऐसी दो मुद्राओं को धारण करते हुए उनमें जगदम्बा के आवेश का परिचय प्रदान करने लगे। इतने अल्प समय में यह घटना घटी कि पास के भक्तों में किसी-किसी ने सोचा, श्रीरामकृष्ण देव को भावाविष्ट देखकर ही गिरीश ने उनके चरणों में पुष्पांजलि प्रदान की है। यह घटना विश्वास की शक्ति से ही घटित हुई थी, यह स्पष्ट है।

दूसरी घटना है—जनवरी १९८८६ की। यह घटना कलकत्ते के काशीपुर में गोपाल बाबू के उद्यान भवन में घटी थी। श्रीरामकृष्ण देव उस समय डॉ० सरकार के परामर्शानुसार वहाँ रहकर चिकित्सा करा रहे थे। उक्त बगीचे में आने के दो चार दिन बाद ही डॉ० राजेन्द्र लाल दत्त श्रीरामकृष्ण देव को देखने आये तथा उन्होंने उन्हें लाईको पोडियम (200) नामक दवा भी दी। उससे उन्हें कुछ लाभ भी प्रतीत हुआ। अतः उस दिन अपराह्न के समय उन्होंने बगीचे में टहलने की इच्छा प्रकट की। इससे भक्तवृन्द विशेष आनन्दित हो उठे।

अपराह्न के तीन बज चुके थे। श्रीरामकृष्ण देव लाल किनारे की धोती, कुरता लाल किनारेदार एक मोटी चद्दर, कनटोप तथा चप्पल पहनकर ऊपर से नीचे उतरे तथा हाल देखने के पश्चात पश्चिम दरवाजे से बाहर निकल कर बगीचे की ओर चले। गृहस्थ भक्त भी उनके पीछे चले।

गृहस्थ भक्तों में से श्रीयुत् गिरीशचन्द्र का अनुराग उस समय अत्यन्त प्रबल था। किसी समय उनके अद्भुत विश्वास की विशेष प्रशंसा करते हुए श्रीरामकृष्ण देव ने अन्य भक्तों से कहा भी था "गिरिश का पाँच चवन्नी पाँच आने विश्वास है, कुछ दिन बाद उसकी अवस्था को देखकर लोग आश्चर्य चकित हो जायेंगे।"

भक्तों के साथ रास्ते के मध्य आने पर श्रीरामकृष्ण देव ने रास्ते के किनारे पर आम के पेड़ की छाया में बैठे श्रीरामचन्द्र दत्त एवं गिरीश चन्द्र घोष को देखा। गिरीशचन्द्र को सम्बोधित कर उन्होंने कहा "गिरीश, तुमने ऐसा क्या देखा है कि जिससे मेरे सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें (मैं अवतार हूँ इत्यादि) सबसे कहते फिरते हो?", सहसा इस प्रकार पूछे जाने पर भी गिरीशचन्द्र का विश्वास विचलित नहीं हुआ। अत्यन्त आदर के साथ वे रास्ते पर आये तथा उनके चरणों के समीप घुटने टेक हाथ जोड़कर बैठ गये तथा गद्गद् कण्ठ से कहने लगे, "व्यास वाल्मीकि आदि महर्षि भी जिनकी महिमा का वर्णन करते-करते थक गये उनके सम्बन्ध में मैं पामर और अधिक क्या कह सकता हूँ!"

गिरीशचन्द्र की इस प्रकार अद्भुत विश्वास भरी बात को सुनकर श्रीरामकृष्ण देव का सारा शरीर रोमांचित हो उठा एवं मन उच्च भूमि पर आरूढ़ होने के फल स्वरूप वे समाधिस्थ हो गये। उस देव भाव से प्रदीप्त उनके मुखमंडल को देखकर गिरीशचन्द्र परम उल्लास के साथ जय रामकृष्ण, जय रामकृष्ण कहते हुए बारम्बार उनकी चरणरज लेने लगे।

इसी बीच अर्धबाह्य दशा को प्राप्त होने पर श्रीरामकृष्ण देव सभी लोगों की ओर देखते हुए मृदु हास्य के साथ बोले—तुम लोगों से और क्या कहूँ तुम सबको चैतन्य प्राप्त हो। भक्तवृन्द उस

अभयवाणी को सुनकर जय ध्वनि करते हुए उन्हें प्रणाम करने लगे। चरणस्पर्श कर पहला व्यक्ति ज्योंही खड़ा हुआ त्योंही श्रीरामकृष्ण देव उसी अर्धबाह्य दशा में उसका वक्ष स्थल स्पर्श कर नीचे से ऊपर की ओर हाथ फेरकर बोले "तुझे चैतन्य प्राप्त हो"। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के प्रणाम करने पर, तीसरे के साथ भी वैसा ही, चौथे के साथ भी वैसा ही। इस प्रकार सभी भक्तों को वे स्पर्श करने लगे और इस अद्भुत स्पर्श के प्रभाव से प्रत्येक के भीतर भावान्तर हुआ तथा कोई हँसने, कोई रोने, कोई ध्यान करने लगा तथा कोई आनन्द-विह्वल होकर अहैतुक दयानिधि श्रीरामकृष्ण देव की कृपा प्राप्त कर धन्य होने के निमित्त दूसरे लोगों को जोर जोर से पुकारने लगा। इस प्रकार गिरीशचन्द्र घोष के माध्यम से तथा उनके विश्वास की शक्ति के प्रभाव से ही श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में अदृश्य पूर्व लीलाभिनय प्रकट हुआ था जिसमें उन्होंने सभी भक्तों पर एक साथ कृपा की थी। सन्त कबीर ने भी कहा है। "कहत कबीर सुनो भाई साधो मेरी भेट विश्वास में।" विश्वास में ही प्रभु-दर्शन करा देने की अद्भुत शक्ति है।

●

अवतारवाद की हिन्दू धारणा

—प्रो० वसुन्धरा पाण्डेय
छपरा (बिहार)

वैसे तो संसार के सभी बड़े धर्मों ने सृष्टि को परमात्मा की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है, किन्तु अवतार की धारणा हिन्दू धर्म की अपनी विशिष्टता है। हिन्दू धर्म ने निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म पर गंभीर विचार किया है। अद्वैतियों ने तो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ दूसरा तत्व माना ही नहीं और इस नाना रूपात्मक जगत् और प्राणी सभी कुछ को ब्रह्म से ही उद्भूत और परिव्याप्त माना है। ईशोपनिषद् ने स्पष्ट कहा—"ईशा वास्यमिदम् सर्वम् यत् किञ्च जगत्याम् जगत्"। जो कुछ भी है वह सब ईश्वर से आच्छादित है। व्यक्त परमात्मा के लिए ही ईश्वर शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अवतार शब्द तृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है—जाना। 'अव' का अर्थ है नीचे। अतः अवतार का शाब्दिक अर्थ है नीचे जाना या उतरना। ईश्वराभिव्यक्ति के संदर्भ में तीन शब्दों के प्रयोग हुए हैं - अवतार, आवेश और प्रेरणा। आवेश विश धातु से बना है, जिसका अर्थ है, प्रवेश करना। अवतार और आवेश में अन्तर है। जब किसी मनुष्य में ईश्वर प्रवेश करता है तो वह अपने शब्दों और आचरण में ईश्वरत्व तो व्यक्त करता है, किन्तु जीव के रूप में अहंकार से युक्त भी होता है। उसकी जीवात्मा के रूप में शरीर-बद्धता भी होती है। महात्माओं और पैगम्बरों को हम इस कोटि में रख सकते हैं। ये उस निमित्त तंत्री की तरह हैं जिस पर ईश्वरीय संगीत बजता है। अवतार के साथ ऐसी बात नहीं है। परमात्मा अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपनी दिव्यता के साथ जब देह को अपने आवरण रूप में स्वयं रचता है, तब अवतार कहा जाता है।

श्री कृष्ण को इसी अर्थ में पूर्णावतार कहा गया कि उन्होंने अपने संकल्प से बाल लीला भी की, रास लीला भी, कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश भी किया और क्षण मात्र में उस विराट रूप के दर्शन भी अर्जुन को कराये, जिसे जीवात्मा के रूप में वह सह न सका। हम कह सकते हैं कि अवतार के साथ देह एक झिल्ली की तरह होती है जिसकी पारदर्शिता से परमात्मा की दिव्यता नहीं छिपती। वह देह में रहता हुआ भी योगस्थ होता है।

प्रेरणा ईश्वरत्व की क्षणिक अभिव्यक्ति है। यह किसी में भी हो सकती है। जब शिल्पी पत्थर में छेनी तथा हथौड़ी के द्वारा अपनी कल्पना की मूर्त्ति उत्कीर्ण करता है तो वह पत्थर की जड़ता ही नष्ट करता है और हम विस्मय विमुग्ध हो जाते हैं। लोगों ने संगीत का ऐसा प्रभाव ग्रहण किया है, जिसने थोड़ी देर के लिए ही सही उन्हें आत्म विस्मृत कर अदृश्य सत्ता की झलक दिखायी है, किन्तु सबके साथ यह क्षणिक प्रेरणा जीवन भर का आवेश नहीं होती। शायद प्राचीन युग में इसी अर्थ में ब्राह्मणों को ब्रह्म का मुख कहा गया होगा कि प्रेरणा के इन क्षणों में उनके मुख से निकले हुए शब्द ईश्वरीय शब्द होते होंगे।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि ईसाई धर्म में जिस Trinity— पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की धारणा है, उसमें पहले और तीसरे की सांसारिक अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु पुत्र आया है। वही ईश्वराभिव्यक्ति का माध्यम है। हिन्दू धर्म की त्रिमूर्त्ति में (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) दूसरा ही अवतार धारण करता है। सृष्टि का नियंता तथा उसका पालक वही है। अतः वही आता है। जितने भी अवतार हुए हैं विष्णु के ही, महेश तथा ब्रह्मा ने किसी क्षणिक उद्देश्य से कोई रूप ग्रहण किया हो, किन्तु पूर्ण जीवन की लीला इनकी कहीं नहीं। महादेव किरात बनकर अर्जुन से लड़े, चांडाल बनकर शंकराचार्य को उपदेश दिया। किन्तु यह अवतार की लीला नहीं कही जाती।

प्रश्न यह है कि यदि सब कुछ व्यक्त परमात्मा ही है तो उसके अवतार का प्रयोजन क्या है? अवतार के तीन प्रयोजन बताये गये हैं :—

(1) प्रकृति के विकास के अवरोध का निवारण।

(2) जीवात्मा के विकास के अवरोध का निवारण।

(3) पृथ्वी को भयमुक्त, भारमुक्त करने के लिए उसकी पुकार की स्वीकृति।

तीनों ही को हम ईश्वर का प्रेम ही कह सकते हैं। पहले प्रयोजन के लिए जब त्रिगुणात्मिका प्रकृति में राजस और तामस से असंतुलन उत्पन्न होता है तो वह आता है।

दूसरे प्रयोजन में जब मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनात्म भाव को प्राप्त होता है और अपने अहंकार के कारण ईश्वरत्व का विरोध करता है, तो वह आता है "विनाशाय च दुष्कृताम्"।

तीसरे प्रयोजन में जब उसके भक्त आर्त्त पुकार करते हैं तो देवता भी परमात्मा की प्रार्थना करते हैं और वह प्रेम के वशीभूत अपने भक्तों की रक्षा के लिए आता है। यह सब उसे विशिष्ट रूप में करना पड़ता है, जिससे उसका नियम चलता रहे। यही नियम धर्म है, जिसकी स्थापना के लिए वह युग-युग में आता है। जो उसे नहीं जान पाते वे उसकी अवमानना भी करते हैं, ऐसा भगवान ने गीता में कहा है।

धारावाहिक

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

हमने सुना है कि लाटू बचपन से ही बड़ा निद्राप्रिय था। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह काम में ढिलाई करता हो। जैसे कुश्ती लडनेवाले पहलवान लोग आम तौर पर थोड़ा अधिक ही सोया करते हैं वैसे ही लाटू भी थोड़ा ज्यादा सोता था। एक दिन कामकाज से थककर लाटू सन्ध्या को सो रहा था। यह देखकर परमहंसदेव ने उसे जगा दिया और बोले—"यह क्या रे? सन्ध्या के समय यह कैसी नींद? ऐसा तो कभी देखा नहीं। सन्ध्या के समय कहाँ तो भगवान को पुकारेगा सो तो नहीं, पड़ा-पड़ा सो रहा है? सन्ध्या के समय मत सोना—उठ जा।"

श्रीरामकृष्ण की आवाज सुनकर लाटू तुरन्त जाग उठा और मानो कोई बड़ा अपराध हो गया हो ऐसा सोचकर लज्जित हो गया। नींद से उठकर लाटू ने अपने आप को बड़ा धिक्कारा था: एक सामान्य आदमी अपने को धिक्कार कर ही सन्तुष्ट हो जाता और सम्भव है कि उस दिन पश्चाताप करके फिर एक दिन सन्ध्या को सो जाता। परन्तु तापस लाटू इसी घटना के आधार पर प्रतिज्ञा कर बैठा, 'मैं अब कभी भी इस समय नहीं सोऊँगा।'

यह प्रतिज्ञा उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक पालन की थी। अति गम्भीर बीमारी के समय भी लाटू महाराज को सन्ध्या के समय उठाकर बैठा देना पड़ता था। यदि उस समय कोई उन्हें उठाकर बैठा देने में आनाकानी करता तो उसकी खैर नहीं थी। एक बार (वाराहनगर मठ में) जबकि उन्हें भयंकर निमोनिया रोग हुआ था, शरत् महाराज उन्हें सन्ध्या के समय बैठाने को राजी नहीं हुए। इस पर लाटू महाराज बड़े क्षुब्ध होकर कहने लगे—"जाओ, जाओ, अपने डॉक्टरों की बात मानकर चलो। वे लोग तो खूब समझते हैं न! (मेरे लिए तो) यह उनका (ठाकुर का) हुकुम है, मानना ही पड़ेगा।" यह सुनकर भी शरत् महाराज उन्हें उठाने में द्विधा का बोध करने लगे। इस पर लाटू महाराज ने उनसे कहा—"यदि तुमलोग मुझे नहीं बैठाते, तो मुझे महावीरजी की शरण लेनी होगी।" इतना सुनकर भी शरत् महाराज उनकी सहायता को अग्रसर नहीं हुए। क्षण भर के लिए ही शरत् महाराज कमरे से बाहर गये थे कि इसी बीच लाटू महाराज अपना दुर्बल शरीर लेकर उठ बैठे। कमरे में लौटकर शरत् महाराज ने यह दृश्य देखा और खेदपूर्वक उनसे कहने लगे—"लाटू भाई! इतना दुर्बल शरीर लेकर क्या ऐसा करना ठीक है? डॉक्टर लोग कितना मना कर गये हैं! भाई, यदि तुम उनकी बात न मानो तो रोग भला कैसे दूर होगा? रोग के समय चिकित्सकों की बात सुननी चाहिए, यह भी तो उन्हीं (ठाकुर) की

बात है। उनको देखा हैं न; वे बीमारी के समय कैसे डॉक्टर लोगों की बात मानकर चलते थे। जानते हो न वह पानी पीने को मना करने की बात? तब फिर क्यों ऐसा करते हो भाई?" ये बातें सुनने के बाद लाटू महाराज बोले थे—"मैं तो इतना सब नहीं जानता, यह उनका हुकुम था और मैं तो उनके हुकुम के अनुसार ही चलूँगा।"

ठीक ऐसी ही एक घटना काशी में भी लाटू महाराज की अन्तिम बीमारी के समय हुई थी। उस बार भी उन्होंने ठाकुर के आदेश का पालन किया था। जिस अवस्था में आदमी कितना भी प्रयास करने पर उठकर बैठ नहीं सकता, उस मुमुर्षु अवस्था में भी लाटू महाराज सन्ध्या के समय बैठ गये थे। यह देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोग चिन्तित तो हुए ही, पर साथ ही ठाकुर के आदेश पालन में उनकी दृढ़ निष्ठा पर सभी लोग दंग रह गये थे।

एक अन्य दिन की बात है। उस दिन लाटू रात के पहले पहर में सो गया था। यह देखकर ठाकुर ने न केवल उसे नींद से जगा दिया, वरन् कुछ बुरा-भला भी कह सुनाया था। बड़ी गम्भीरता के साथ ठाकुर ने कहा था—"क्यों रे! यदि अभी सो पड़ेगा, तो फिर जप ध्यान कब करेगा? रात के अभी नौ भी नहीं बजे, इसी बीच सो गया। कहाँ तो तू रात भर ध्यान करेगा, ध्यान करते करते रात कब बीत गयी पता ही न चलेगा, सो तो नहीं, इसी बीच नींद से पलकें झपका रहा है। तू क्या केवल सोने के लिए यहाँ आया है?"

बस, इतनी सी डाँट से लाटू के मन में जो आन्तरिक धिक्कार उठा, उसके फलस्वरूप लाटू ने जीवन भर के लिए निद्रा त्याग दी थी। बाद में उन्होंने बताया था—"उनकी बात पर मेरे मन में इतना दुःख हुआ कि क्या कहूँ! ऐसा संग पाकर भी मैं सो सोकर दिन गुजार रहा हूँ! जानते हो, मैं बड़े जोर से अपने मन पर चाबुक जमाने लगा। तुरन्त मैं आँखों और मुख पर जल छिड़क कर (गंगा के) तटबन्ध की ओर टहलने गया। घूमते घूमते शरीर बड़ा गरम हो गया, तब जाकर मैं उनके समीप बैठा। फिर तन्द्रा आने लगी और मैं भी पुनः टहलने लगा। इस प्रकार मैं रात भर निद्रा के साथ लड़ाई करता रहा। अगले दिन भी मैंने ऐसा ही किया। लेकिन बड़ी तकलीफ होती थी, दिन के समय आँखें नींद से बोझिल हो जाती थीं। परन्तु मैंने नींद को हावी नहीं होने दिया—उस समय भी उससे लड़ता रहा। इस प्रकार हर रोज प्रयास करता रहा। परन्तु दिन की नींद त्याग नहीं सका।"

दो वर्ष प्रयास करने के बाद तपस्वी लाटू निद्राजयी हो गया था। निद्राजयी का अर्थ निद्रात्यागी नहीं होता। जो व्यक्ति जब भी जितनी भी इच्छा हो सोकर शरीर को सतेज रख रख सकता है, उसी को निद्राजयी कहते हैं।

लाटू महाराज ने निद्रा पर विजय पा ली थी, यह बात शरत् महाराज ने कही है, वही हम आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं—"चाहे ठाकुर के साथ या ठाकुर के देहत्याग के बाद— जीवन भर वे प्रायः रातभर जागकर ध्यान-धारणा में बिताते थे और दिन के समय सो लेते थे। गीता में भगवान ने जो कहा है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'- उनके जीवन में शाब्दिक अर्थ में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ था। ...इस प्रकार वे रात रात भर ध्यान-धारणा में डूबे रहकर भी नियमित रूप से ठाकुर की सेवा में लगे रहते थे।"

एक साथ ही आहार और निद्रा दोनों पर विजय पाने का प्रयास करने के फलस्वरूप लाटू

की देह दिन पर दिन क्षीण होने लगी। हमने सुना है कि दक्षिणेश्वर निवास के दो वर्ष के भीतर ही उन्हें एक बार आँव की बीमारी हो गयी थी। फिर एक बार उन्हें गात्रदाह रोग भी हुआ था (पर कह नहीं सकता कि कब हुआ था)। गात्रदाह के समय ठाकुर ने उन्हें गंगा की मिट्टी का लेप करने को कहा था। इनके अतिरिक्त दक्षिणेश्वर में उन्हें अन्य भी कोई रोग हुआ था या नहीं, हमें ज्ञात नहीं है।

मनुष्य के तीन जैव संस्कारों में मैथुन नामक तीसरा संस्कार लाटू महारज ने जिस प्रकार जय किया था और इस विषय में ठाकुर ने उन्हें जो उपदेश दिया था, अब हम उसी प्रसंग पर आ रहे हैं। बलराम मन्दिर में एक दिन लाटू महाराज ने एक भक्त को बताया था—'देखो! वे हमसे कहते थे, 'जो लोग भगवान की प्राप्ति करना चाहते हैं, उन्हें नारियों से बड़ा सम्भलकर रहना पड़ता है।' महिलाओं से सावधान रहने का अर्थ एक दिन उन्होंने हमें समझाया था, 'महिलाओं के साथ बैठना या वार्तालाप करना, उनकी बातें सुनना और उसी पर मन ही मन चिन्तन करना, उनके बारे में चर्चा करना और बोलते बोलते आनन्द पाना, उनकी कोई चीज अपने पास रख लेना और उसी को छिपा-छिपाकर देखना, उनका हाथ पकड़ना या उन्हें स्पर्श करना—इन सबसे सावधान रहना, समझे! जो ईश्वर को पाना चाहता है उसे आठों प्रकार के रमण का त्याग करना होगा।'....'भगवान को जानने के लिए ब्रह्मचारी होना पड़ता है, जो वीर्यरक्षा नहीं कर सकता, उसे भगवान की धारणा दृढ़ नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य रहने से ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। निश्चय-बुद्धि न होने से पर ब्रह्मशक्ति में विश्वास नहीं जनमता। ब्रह्मशक्ति में विश्वास जनमे बिना जीव जो उन्हीं में निवास कर रहा है इसका बोध नहीं होता।'"

ठाकुर की ये बातें सुनकर एक भक्त ने लाटू महाराज से कहा था—'महाराज! क्या कोई ऐसी तपस्या कर सकता है? संसार में रहकर महिलाओं के बारे में न सोचे, महिलाओं के गले की आवाज न सुने, महिलाओं को आँखों से न देखे, यहाँ तक कि महिलाओं के साथ वार्तालाप भी न करे—इतनी तपस्या करना भला सम्भव है क्या?' भक्त की इस बात पर लाटू महाराज ने जो कुछ उत्तर दिया था, उससे उनके तपस्वी जीवन की कठोरता का यत्किंचित आभास मिलता है।—"अरे! तुम गृही लोग ऐसा न सोचना कि ऐसी तपस्या कोई कर नहीं सकता। बल्कि इस पृथ्वी पर ऐसे बड़े बड़े लोगों का जन्म हो चुका है, जो आजीवन महिलाओं की माया में भूले नहीं। कामिनी-कांचन की आसक्ति उसके सामने सिर नहीं उठा सकी। वे कहा करते थे, 'शुकदेव आदि उर्ध्वरेता थे। उनकी कामिनी-कांचन में आसक्ति नहीं थी।' अरे! आसक्ति दूर होते ही तो महिलाओं के बारे में कल्पना नहीं होती। जब तक आसक्ति रहती है, तभी तक कल्पना रहती है। कल्पना बन्द करो, देखोगे कि तुम्हारी भी कामिनी-कांचन की आसक्ति छूट रही है। अरे, कल्पना क्या ऐसे ही बन्द होती है? उनके नाम में मशगूल हुए बिना कल्पना नहीं छूटती। वे हमलोगों से कहते थे, 'दिन भर जपध्यान करना। जो दिन भर जपध्यान कर सकता है, उसके मन से कामिनी-कांचन की आसक्ति चली जाती है।' अरे! अपने ही जीवन में तो मैंने देखा है, नाम में मशगूल हो जाने से और कुछ अच्छा नहीं लगता। नाम में जो रस है मनुष्य उसी में मतवाला हो जाता है। उस समय जो आनन्द मिलता है, उसके समक्ष नारी का आनन्द तुच्छ प्रतीत होता है। वे कहा

करते थे—ब्रह्मरमण के एक कण में जो आनन्द मिलता है वह कोटि रमणसुख में भी नहीं मिलता'।"

उपर्युक्त कथन से हम अनुमान लगा सकते हैं कि ठाकुर ने तपस्वी लाटू को इन्द्रियदमन के के लिए प्रतिक्षण नाम स्मरण करने का आदेश दिया था। सामान्यतः युवावस्था में मन विषयासक्त हो जाता है। उस अवस्था में सदा स्मरण-मनन में लगे रहना बड़ा कठिन है। 'दिन रात निरन्तर उनका नाम करो अहोरात्र एक क्षण के लिए भी उन्हें न भूलो' ठाकुर जो इस तरह की बातें अपने भक्तों से कहा करते थे, वह सुनने में तो सहज लगता है, परन्तु पालन करते समय पता चलता है कि इसकी दुःसाध्यता कहाँ है, यह इतनी कठिन साधना क्यों है, इतनी कठोर तपस्या क्यों है! जिस समय आसक्ति के द्वारा आकृष्ट हो रहा हो, उस समय उस आसक्तिकातर मन को प्रलोभन से मुक्त रखना कितनी कठोर परीक्षा है, यह भुक्तभोगी ही समझ सकता है। हर कोई इसका गुरुत्व नहीं समझ सकता, क्योंकि इस संग्राम में शत्रुपक्ष और मित्रपक्ष दोनों एक ही खेमे में निवास करते है। कब कौन किस वेश में प्रकट होगा और कौन कब किसको पराभूत कर डालेगा, यह कोई भी नहीं जानता। दोनों को बल,शक्ति,तेज एक ही आधार से प्राप्त होता है और दोनों एक ही आधार में क्रियाशील होकर विभिन्न अवसरों पर अलग-अलग पक्ष को बलवान बनाते हैं। ऐसे अन्तर्द्वन्द्व के बीच जिन्हें विवेक और विचार की सहायता मिलती है, केवल वे लोग ही अपने उद्यम के द्वारा इसमें शान्त और निरपेक्ष रहकर उत्तेजित और प्रलोभित मन को लगाम खींचकर रह सकते हैं।

हमारे लाटू महाराज को भी अपने तपस्याकाल में इसी तरह के अन्तर्द्वन्द्वों से हो कर गुजरना पड़ा था। उन्होंने विवेक और विचार की सहायता लेकर अपने उद्यम से अनेक प्रलोभनों का जाल छिन्नभिन्न कर दिया था। वे जिन प्रलोभनों पर विजय पाने का संकल्प करते, उसके लिए चाहे कितनी भी कठोर तपस्या क्यों न करनी पड़े, लक्ष्य को प्राप्त किये बिना वे पीछे नहीं हटते थे। उनके चरित्र का यही वैशिष्ट्य है और इसी के फलस्वरूप वे यथासमय नित्य-स्मरण रूपी महायज्ञ में सिद्ध हो सके थे।

(क्रमशः)

शताब्दी भर इने-गिने व्यक्ति ही ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करते हैं और इनसे समस्त देश कृतार्थ और पवित्र हो जाता है। जब ईश्वर के भक्त का अवतार होता है, तब सारा देश धन्य और पवित्र हो जाता है। यद्यपि सारे संसार में शताब्दी भर में ऐसे भगवद्भक्त बहुत ही कम संख्या में जन्म लेते हैं, तथापि उस ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न हम सबको करना चाहिए। कौन जानता है कि ईश्वर का पूर्ण प्रेम तुमको या मुझको ही प्राप्त होनेवाला हो? अतः हमें इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

—स्वामी विवेकानन्द

(वि. सा. सं. पृ. ४९)

फोन : 53856

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज
इलाहाबाद - 211003
1 अप्रैल, 1988

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर-१९८९

अपील

मान्यवर,

विश्व का प्रसिद्ध और विशाल धार्मिक पर्व पूर्ण कुम्भ मेला यहाँ जनवरी-फरवरी १९८९ से सम्पन्न होने जा रहा है। इस महापुनीत अवसर पर एक सौ पच्चीस लाख तीर्थयात्रियों, एवं साधुओं के देश के प्रत्येक भाग से और कुछ बाहर से भी भाग लेने की संभावना है। साधुओं,तीर्थयात्रियों तथा कल्पवासियों के लिए चिकित्सा सुविधा की विशेष व्यवस्था करनी होगी। विगत वर्षों की भाँति इस सेवाश्रम द्वारा इस मेले में एक शिविर संचालन करनेका विचार है जिसमें एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को मुफ्त चिकित्सा सुविधा प्रदान करने हेतु एलोपैथिक और होमियोपैथिक क्लिनिक्स और एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र खोलने की योजना है। योग्य डाक्टर, कम्पाउण्डर, अतिरिक्त चिकित्सा अधिकारी तथा स्वयंसेवक इस कार्य में सहायक होंगे। तीन सौ तीर्थयात्रियों, एक सौ साधुओं और स्वयंसेवकों के लिए भोजन तथा अस्थायी वासस्थान की सुविधा उपलब्ध करायी जायगी। नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिए शिविर में एक मन्दिर और सत्संग पंडाल की योजना भी प्रस्तावित है। संपूर्ण शिविर पर अनुमानित व्यय चार लाख का है। अतः सेवाश्रम उदारचरित जनता से पूर्व की भाँति इस पुनीत मानवीयतापूर्ण कार्य में अपना सहज सहयोग प्रदान करने का आंतरिक अनुरोध करता है। सहयोग राशि सधन्यवाद और रसीद सहित ग्रहण की जायगी।

चेक और ड्राफ्ट क्रॉस कर "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद आदाता के खाते में" (A/C Payee only) लिखकर मुख्यतः पंजीकृत डाक द्वारा भेजें।

धन्यवाद,

प्रभु चरणाश्रित आपका,
स्वामी हर्षानन्द
सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दी गयी दानराशि आय कर एक्ट, १९६१, के खंड ८० जी० के मुताबिक कर से मुक्त है।

२. प्रमुख स्नान तिथियाँ : १४ जनवरी (मकर संक्रांति), ३१ जनवरी (पौष पूर्णिमा), ६ फरवरी (मौनी अमावस्या), १० फरवरी (वसंत पंचमी) और २० फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. कुम्भ मेला के इस शिविर में भोजन और वासस्थान की सुविधा जो लोग चाहते हों वे विहित प्रपत्र और अग्रिम भुगतान के साथ अपनी जगह आरक्षित करा लें। संबंधित पूर्ण विवरण मई-जून १९८८ तक तैयार होगा।

स्वामी विवेकानन्दजी की १२५ वीं जन्मवार्षिकी महोत्सव
(१२ जनवरी १९८८ से १२ जनवरी १९८९)
इस पावन अवसर पर पाठकों के समक्ष

विवेकानन्द साहित्य

(१० खंडों में, प्रत्येक खंड लगभग ४५० पृष्ठों का)

का एक सस्ता संस्करण
प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है

मूल्य	रु. १००/- मात्र
अग्रिम बुकिंग मूल्य	**रु. ६०/- मात्र**
(डाक व्यय अलग से)	रु. १५/- मात्र
पुस्तक वितरण तिथि	**१२ जनवरी १९८९**

भारतीय जन के मानसपटल पर स्वामी विवेकानन्दजी एक अमिट छाप छोड़ गये हैं। निःसन्देह, उनके विचारों को देश एवम् विदेश के हर घर में पहुँचाने का कर्त्तव्य हर भारतीय का है। अब तक स्वामीजी का सम्पूर्ण साहित्य जिसमें उनके व्याख्यान, पत्र, रचनाएं आदि समाविष्ट हैं २७५/- रुपय में उपलब्ध था। इस वर्ष स्वामिजी की १२५ वीं जन्म वार्षिकी सारे विश्व में धूम-धाम से मनायी जा रही है। इस पुनीत अवसर पर हमने उनके साहित्य के अंग्रेजी एवम् हिन्दी संस्करण को अत्यल्प मल्य में १२ जनवरी १९८९ से उपलब्ध कराने का निश्चय किया है।

चूंकि परिमित संख्या में ही इसे छापा जा रहा है, अतएव इच्छुक व्यक्तियों से अनुरोध है कि निराशा से बचने के लिए वे शीघ्रातिशीघ्र अग्रिम बुकिंग कर लें।

साथ ही १२ जनवरी १९८९ तक हमारी अन्य सारी पुस्तकों पर १०% की छूट दी जा रही है।

लिखें :—

अद्वैत आश्रम
५ डिही इन्टाली रोड
कलकत्ता ७०००१४

सद्य प्रकाशित नवीन ग्रन्थ

स्वामी अभेदानन्द प्रणीत

मृत्यु के पार

मृत्यु होने पर मनुष्य कहाँ जाता है ? किस अवस्था में रहता है ? आत्मा का अस्तित्व है या नहीं परलोक में जीव का अवस्थान किस प्रकार रहता है ? यह सभी जिज्ञासा आदिम युग से ही मानव मन को आन्दोलित करती रही है। इस सभी की मीमांसा स्वामी अभेदानन्द महाराज ने अपने ग्रन्थ "मृत्यु के पार" में अपनी अभिज्ञता के आधार पर की है। इहलोक के निगूढ़ रहस्यों का परिचय देते हुए उपरोक्त प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर इस ग्रन्थ में उन्होंने दिया है। मानव एवं प्राणीमात्र की आत्मा का विनाश नहीं है, किन्तु जीव भाव का क्रमविकास होता है एवं मृत्यु क्रम विकास को ही प्रतिछवि है। मनुष्य जन्म-मृत्यु के मध्य विचरण करते हुए ही परम रहस्यमय निज आत्मसत्ता की उपलब्धि करता है।

डिमाई साइज, पृष्ठ संख्या १६८: मूल्य—बीस रुपया।

प्रकाशक :

श्रीरामकृष्ण वेदान्त मठ

१९-बी, राजाराजकृष्ण स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००६

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

TEMCON INSTRUMENTS COMPANY

198 A, BLOCK 'J'

NEW ALIPORE

CALCUTTA—700 053

With Best Compliments From :

BHARAT UDYOG

507, A. M. G. ROAD

NANPADA

THANE—2

(M. S.)

स्वामी विवेकानन्दकृत साहित्य

धर्म तथा अध्यात्म

धर्मविज्ञान	५·००
धर्मतत्त्व	४·५०
धर्मरहस्य	३·००
हिन्दूधर्म	४·५०
हिन्दूधर्म के पक्ष में	२·००
शिकागो वक्तृता	१·५०
आत्मतत्त्व	५·००
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता	४·५०
भगवान बुद्ध का संसार को संदेश एवं अन्य व्याख्यान और प्रवचन	६·००
देववाणी	८·००
वेदान्त	४·२५
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त	३·५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	५·००

संभाषणात्मक

विवेकानन्दजी के संग में	१३·००
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	५·००
विवेकानन्दजी की कथाएं	५·००
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	३·००

स्वामी विवेकानन्दजी के महत्त्वपूर्ण व्याख्यान,
लेख, पत्र, काव्य आदि का प्रातिनिधिक संचयन

पृष्ठ : ५५० ग्रंथालय संस्करण : रु० २१/- सस्ता संस्करण : रु० १०/-

---

अधिक जानकारी के लिए लिखें :—

विवेकानन्द साहित्य संचयन

रामकृष्ण मठ
(प्रकाशन विभाग)
धन्तोली, नागपुर—४४० ०१२

डाक पंजीयित संख्या—सी० एच० पी०—१४-८१ अंक—८—१९८८

विवेक वाणी

धर्म को जीवन में सिद्ध करो

धार्मिक होने के लिए सर्वप्रथम तुम्हें पुस्तकें फेंक देनी होंगी। पुस्तकें जितनी कम पढ़ो, उतनी ही तुम्हारी भलाई है। एक समय में एक ही काम करो। इस जमाने में पाश्चात्य देशों में दिमाग को खिचड़ी करने की प्रवृत्ति चल रही है। सभी तरह के अपरिपक्व विचार दिमाग में उत्पात मचाते और अराजकता फैला देते हैं। इन विचारों को दिमाग में ठंडा होने का और निश्चित आकार में आने का मौका ही नहीं मिलता। बहुधा यह एक प्रकार का रोग सा हो जाता है। यह तो धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को सनसनी पैदा करनेवाला चाहिए।.....पर यह पागलखाने का रास्ता है, न कि धर्म का।

.....तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धान्तों में और न पुस्तकों में वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। वह 'सीखना' नहीं है, 'होना' है। 'चोरी मत करो', इसे सब जानते हैं पर इससे क्या ? इसे तो यथार्थ में उसी ने जाना, जिसने चोरी नहीं की। 'दूसरों को हानि मत पहुँचाओ' यह बात हर एक को मालूम है पर इससे क्या लाभ ? जिन्होंने दूसरों को हानि नहीं पहुँचायी, उन्होंने इस वाक्य का अनुभव किया। उन्होंने इसे जाना और इस सिद्धांत पर अपने चरित्र का निर्माण किया। धर्म अनुभव करना है, और मैं तुमको ईश्वर का उपासक तभी कहूँगा, जब तुम इस आदर्श को सिद्ध करने में समर्थ हो जाओगे। उसके पूर्व ये सारे व्यापार शब्द की वर्तनी मात्र हैं। साक्षात्कार, प्रत्यक्षानुभूति की यह शक्ति ही धर्म की निर्मायक है। अपने मस्तिष्क में सिद्धान्तों, दर्शनों और नीतियों पुस्तकों को जितना चाहे ठूँस लो, उससे कुछ लाभ नहीं होने का, असली चीज है—वह, जो तुम हो तथा वह सत्य, जिसे तुमने उपलब्ध किया है। अतः हमें धर्म को जीवन में सिद्ध करना है, और धर्म की यह सिद्धि एक लम्बी प्रक्रिया है।

—स्वामी विवेकानन्द

मूल्य : २.५०

आनन्द डाइजेस्ट
पारिवारिक मासिक पत्रिका
बालक प्रकाशन,
पटना-800004, फोन 50341

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित।

[illegible] प्रेस में कवर मुद्रित